दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2499 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 29 अंक नं० 2

जान लियो संसार

(राग-सोरठ)

हमकौं कछू भय ना रे, जान लियौ संसार॥हमकौं०
जो निगोद मैं सो ही मुझमैं, सो ही मोखमंझार।
निश्चय भेद कछू भी नाहीं, भेद गिनै संसार॥ हमकौं०
परवश है आपा विसारिकै, राग दोष कौं धार।
जीवत मरत अनादि कालतें, यौं ही है उरझार॥ हमकौं०
जाकरि जैसैं जाहि समयमैं, जो होतब जा द्वार।
सो बनि है टरि है कछु नांहीं, करि लीनौं निरधार॥ हमकौं०
अगनि जरावै पानी बोवै, बिछुरत मिलत अपार।
सो पुद्गल रूपी मैं बुधजन, सबकौ जाननहार॥ हमकौं०

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जून : 1973] वार्षिक मूल्य 4) रुपये (338) एक अंक 35 पैसा [ज्येष्ठ : 2499

श्री पंडित दीपचंदजी साधर्मीकृत

ज्ञान-दर्पण

(अंक 337 से आगे)

गुण एक एक मैं अनेक भेद ल्याय करि, द्रव्य गुण पर्याय तीनौं साधि लीजिए।
नय उपचार और नय की विविक्षा साधि, ताही भांति द्रव्यमांहिं तीनो भेद कीजिए॥
परजाय परजाय माहिं मुख्य द्रव्य सो है, याही रूप गुण तीनौं यामैं साधि दीजिए।
याही भाँति एक कर अनेक भेद सबै साधि, देखी चिदानंद 'दीप' सदा चिर जीजिए॥79॥
आप सुद्ध सत्ता की अवस्था जो स्वरूप करै, सो ही करतार देव कहै भगवान है।
परिणाम जीवही को करम करावै यातैं, प्रणति ही क्रिया जाकौं जानै सो ही जान है।
करता करम क्रिया निहचै विचार देखैं, वस्तुसौं न भीन्न होई यहै परमान है।
कहै 'दीपचंद' ज्ञाता ज्ञान मैं विचार सो ही, अनुभौ अखंड लहि पावै सुखयान है॥80॥
गुण को निधान अमलान है अखंडरूप, तिहूँलोक भूप चिदानंद सो दरसि है।
जामैं एक सत्तारूप भेद त्रिधा फलि रह्यो, जाके अवलोकैं निज आनंद वरसी है॥
द्रव्य ही तैं नित्य परजातैं अनित्य महा, ऐसै भेद धरिकै अभेदता परसि है।
कहिए कहाँ लौ जाकी महिमा अपार 'दीप' देव चिदरूप की सुभावता सरसि है॥81॥
सहज आनंदकंद देव चिदानंद जाकौ, देखि उरमाहिं गुणधारी जो अनंत है।
जाके अवलोकें यौ अनादि कौ विभाव मिटै, होय परमातमा जो देव भगवंत है॥
शिवगामी जन जाकौ तिहूँकाल साधि साधि, वाही को स्वरूप चाहै जेते जगि संत है।
कहै 'दीप' देखि जो अखंड पद प्रभु कौ सो, जातैं जगमाहिं होय परम महंत है॥82॥
आतम करम दोऊ मिले हैं अनादि ही के, याही तैं अज्ञानी ह्वै कैं महा दुख पायौ है।
करिकै विचार जब स्व-पर विवेक ठान्यो, सब पर भिन्न मान्यौ नाहिं अपनायौ है॥
तिहूंकाल शुद्धज्ञान-ज्योति की झलक लीए, सासतौ स्वरूप आपपद उर भायौ है।
चेतना निधान मैं न आन कहूं आवन दे, कहै 'दीपचंद' संत वंदित कहायौ है॥83॥
आगम अनादि कौ अनादि यौं बतावतु हैं, तिहुंकाल तेरो पद तोहि उपादेय है।
याही तैं अखंड ब्रह्मंड कौ लखैया लखि, चिदानंद धारैं गुणवृंद सोही धेय है॥
तू तौ सुखसिंधु गुणधाम अभिराममहा, तेरौ पद ज्ञान और जानि सब ज्ञेय है।
एक अविकार सार सबमैं महंत सुद्ध, ताहि अवलोकि त्यागि सदा पर हेय है॥84॥

[क्रमशः]

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

जून : 1973 ☆ ज्येष्ठ : वीर नि० सं० 2499, वर्ष 29 वाँ ☆ अंक : 2

स्वतत्त्व का अवलोकन कर

मुमुक्षु को स्वतत्त्व को देखने की शूरता चढ़ जाये—ऐसी उसकी अद्भुत महिमा बतलाते हुए पूज्य स्वामीजी बारम्बार कहते हैं कि—

स्वतत्त्व के अवलोकन से आनंद का अनुभव होता है। स्वयं अपने को देखने में जो महाआनंद है, उसकी जगत को कल्पना भी नहीं है और बाह्य वस्तु को देखने में आनंद मानता है, परंतु वहाँ तो आकुलता का दु:ख है; सुख का धाम तो स्व में है, उसके अवलोकन में ही आनंद है।

हे जीव! एक बार स्वतत्त्व को तो देख! बाह्य में मरण जितनी प्रतिकूलता आये तो भी उसकी परवाह न करके अपने स्वतत्त्व को अंतर में देख! स्वतत्त्व को देखने से निजानंद की मस्ती में तू ऐसा मस्त हो जायेगा कि जगत में बाह्य की कुछ महत्ता तुझे नहीं रहेगी। समस्त रस छूटकर चैतन्य के शांतरस में ही तू निमग्न हो जायेगा... तू चैतन्य-आनंद के उद्यान में केलि करेगा। इसलिये शूरवीर होकर अपने स्वतत्त्व का अवलोकन कर!

ज्ञानी परम सुखरूप मोक्ष को ही पहिचानते हैं अज्ञानी मोक्षसुख को नहीं पहिचानते

ज्ञानी राग से भिन्न चैतन्यसुखरूप मोक्ष के स्वाद को ग्रहण कर उसकी साधना करते हैं। सिद्धभगवान की सच्ची पहिचान उन्हें ही होती है।

आत्मा का स्वभाव निराकुल आनंद से भरपूर्ण है, और इच्छा के अभावरूप है; परंतु अपने ऐसे निजस्वभाव की शक्ति को अज्ञानी खो बैठा है, उसको वह भूल गया है, इसलिये वह इच्छारूप राग को ही अपना स्वरूप मान रहा है, अतः वह इच्छा का निरोध नहीं करता। इसप्रकार इच्छा के अभावरूप तप कि जिसमें आत्मा के आनंद का अनुभव है और जो निर्जरा का कारण है, उसको अज्ञानी नहीं पहचानता; वह ऐसा मानता है कि अनाज न खाने से या शुभराग किया, इसलिये मुझे तप हो गया और निर्जरा भी हो गई;—परंतु निर्जरा या तप का ऐसा स्वरूप नहीं है। अंतरंग ध्यान के द्वारा चैतन्य का प्रतपन होना अर्थात् विशेष शुद्धता का होना, वही तप और संपूर्ण निराकुलतारूप मोक्षतत्त्व है।—ऐसे निर्जरा व मोक्षतत्त्व को अज्ञानी पहिचानता नहीं है, अज्ञानी को सात तत्त्व में विपरीत श्रद्धा है; ऐसी विपरीत श्रद्धा सहित जो कुछ जानना है, वह सब अज्ञान है और दुःखदायक है;—ऐसा जानकर वह छोड़ने योग्य है।

शास्त्र में चारगति के जो महाभयंकर दुःखों का वर्णन किया है, उसका कारण मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है; जीवादि तत्त्व के सच्चे ज्ञान द्वारा वह मिथ्यात्वादि छूट जाता है, और मोक्षसुख का सच्चा उपाय प्रगट होता है। अहा, मोक्षसुख का सच्चा स्वाद अज्ञानी जीव ने कभी ग्रहण नहीं किया। मोक्षसुख का स्वरूप पहिचाने तो स्वयं को भेदज्ञान होकर अपूर्व वीतराग-विज्ञान प्रगट हो, और मोक्षसुख का प्रतिभास होने लगता है।

भाई! तेरी आत्मा की शक्ति अपार है, इच्छा के द्वारा वह रुकी हुई है। स्वरूप में स्थिरता होने पर इच्छायें रुक जाती हैं और निजशक्ति का विकास होता है, वह निर्जरा और मोक्ष का कारण है। संपूर्ण निराकुलता होने पर पूर्ण सुखरूप मोक्षदशा प्रगट होती है। 'मैं

ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ, पर में मेरा सुख नहीं है, शुभाशुभ इच्छायें मेरा स्वरूप नहीं हैं'—ऐसी पहचान के बिना शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध कभी नहीं होता और आनंद का अनुभव नहीं होता। इच्छारहित आत्मा का सुखस्वभाव है, उसके अनुभव से ही संवर-निर्जरा-मोक्ष प्रगट होता है। अज्ञानी शुभराग से या देह की क्रिया से संवर-निर्जरा-मोक्ष होने का मानते हैं, वह उनकी भूल है।

मोक्ष के कारणरूप निर्जरा सम्यग्दृष्टि को ही होती है; शेष अकामनिर्जरा तो अज्ञानी के भी होती है, उसकी बात नहीं है। ज्ञान और इच्छा भिन्न हैं; इच्छा तो आत्मशांति से विरुद्ध है, उसमें आकुलता है। जिसने शुभराग को मोक्ष का साधन माना, उसने आकुलभाव के द्वारा मोक्ष होने का माना, अतः उसका मोक्ष भी आकुलतारूप ही हुआ; निराकुल सुखरूप मोक्ष की उसे पहचान नहीं है। मोक्ष तो संपूर्ण निराकुलतारूप है, निराकुलता का कारण तो निराकुल भाव ही होता है, आकुलता कभी निराकुलता का कारण नहीं होती। शुभ इच्छा में भी आकुलता है, उसको यदि मोक्ष का कारण माना जाये तो कारण-कार्य में विपरीतता हो जाती है। ऐसी विपरीत श्रद्धा व विपरीत ज्ञान जीव को दुःख का कारण होता है; अतः उसका त्याग करना चाहिए।

जीव इच्छा करे और फिर उसमें सुख माने, तब वह इच्छा को छोड़कर शांत स्वभाव का अनुभव कैसे करेगा? इच्छा तो स्वयं दुःख है; कहा भी है कि 'क्या इच्छत? खोवत सबै, है इच्छा दुःखमूल।' अरे जीव— तू अपने चैतन्यवैभव को भूला, तब पर में से सुख लेने की बुद्धि तेरे को हुई। किंतु हे भाई! पर से सुख ग्रहण करने की बुद्धि के कारण तू अखंड सुख के भंडार को भूल रहा है; अपने निधान को भूलकर तू दुःखी हो रहा है। पर में सुख नहीं, चैतन्य में ही सुख है—ऐसा समझकर निजस्वरूप में स्थिर एकाग्र रहना और पर की इच्छा का निरोध करना, वह शांति है, तप है, वही निर्जरा है और वही मोक्ष का मार्ग है।

जीव-अजीव आदि तत्त्वों को अज्ञानी नहीं पहचानता; उसे ऐसी कल्पना होती है कि रुपये के बिना मैं मर जाऊँगा, शरीर के बिना मैं मर जाऊँगा। परंतु अरे जीव! तुम तो चैतन्य से जीनेवाले हो; शरीरादि के संयोग से तुम जीनेवाले नहीं हो, तुम उससे भिन्न हो, और उस तरफ की इच्छा के बिना ही तुम जीनेवाले हो; अतः पर के बिना मैं जी नहीं सकूँगा—ऐसी

मिथ्याबुद्धि को छोड़। मिथ्याभाव से जीव का भावमरण होता है और वही दु:ख है। ऐसी भूल जीव अनादि से कर रहा है और उसके फलस्वरूप दु:ख भी अनादि से भोग रहा है। अब उस भूल को छोड़कर सुखी होने के लिये यह उपदेश है।

अपने स्वरूप की सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान के रहित, शुभरागरूप व्यवहार किया और व्यवहार जानपना जीव ने अनंतबार किया, परंतु वे सब मिथ्या हैं। मिथ्यात्वपूर्वक जीव जो कोई भाव करते हैं, वे सब दु:खदायक ही हैं। श्री पंडित बुधजनजी कहते हैं कि—

सम्यक् सहज स्वभाव आपका अनुभव करना,
या बिन जप-तप व्यर्थ कष्ट के मांहीं पड़ना।
कोटि बात की बात अरे! बुधजन उर धरना,
मनवचतन शुचि होय ग्रहो जिनवृक्ष का शरना॥

करोड़ों बातों का यही सार है कि आत्मा के सहज स्वभाव का अनुभव करना; उसके बिना सब व्यर्थ है।

देखो, समयसारादि बड़े-बड़े शास्त्र में तो यह बात है ही, किंतु पहले के विद्वानों ने भी यही बात कही है। उन पंडितों का कथन भी आचार्यों के अनुसार ही है, उसमें वीतरागविज्ञान का ही प्रतिपादन है। चैतन्य वीतरागविज्ञान सुखरूप है, और ऐसे वीतरागविज्ञानरूप धर्म की साधना करके अनादिकाल से जीव मुक्त होते रहते हैं। वीतरागविज्ञानवंत जीव जगत में सदाकाल विद्यमान होते ही हैं।

आत्मा आनंद को चाहती है; वह आनंद कहीं बाह्य में नहीं है, आत्मा में ही आनंद है। अत: ज्ञानी कहते हैं कि हे जीव! तू आत्मा में मग्न हो... आत्मा में सदैव प्रतीतवंत हो; आत्मज्ञान के बिना सब दु:खदायक है। सात तत्त्वों की सच्ची पहिचान करने पर उसमें आत्मा की पहचान आ जाती है—

1. 'जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं'—जीव सदा उपयोग लक्षणरूप है, वह शरीरादि अजीव से भिन्न तत्त्व है।

2. पुद्गलादि अजीवतत्त्व है, उनमें ज्ञान नहीं है। जीव और अजीव दोनों के कार्य भिन्न हैं, अपने-अपने में हैं।

3. मिथ्यात्वादि भाव है, सो आस्रव है, पुण्य-पाप दोनों का आस्रव में समावेश है। वह आस्रवभाव जीव को दु:खदायक है।

4. सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव के द्वारा कर्म का संवर होता है। वह सम्यग्दर्शनादि भाव जीव को सुखरूप है और मोक्ष का कारण है।

5. मिथ्यात्वादि भाव बंध का कारण है; शुभराग भी बंध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं है।

6. आत्मा की पूर्ण शुद्धता होने पर आकुलता का सर्वथा अभाव हो जाना और कर्मों के बंधन से आत्मा का मुक्त होना, वह मोक्षतत्त्व है; वह पूर्ण सुखरूप है।

—इस प्रकार सात तत्त्वों को पहिचानकर उनमें से सम्यग्दर्शनादि सुख के कारणों का ग्रहण करना, और दु:ख के कारणरूप मिथ्यात्वादि का त्याग करना—ऐसा उपदेश है। ऐसा यथार्थ तत्त्वश्रद्धान, सो सम्यग्दर्शन है, और सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मूल है।

अज्ञानी जीव बाह्य अनुकूलता में सुख मानता है, परंतु सम्यग्दर्शन के बिना वास्तव में वह दु:खी ही है। चींटी जब शक्कर खा रही हो, उस समय भी वह दु:खी है; मनुष्य मिष्टान्न खा रहा हो, उस समय भी वह दु:खी है; स्वर्ग का मिथ्यादृष्टि देव अमृत का स्वाद लेता हो, उस समय भी दु:ख का ही वेदन कर रहा है; परंतु जीव भ्रम से अपने को सुखी मानते हैं। अरे भाई, यह तो अशुभ इच्छा है, पाप है, आकुलता है, उसमें दु:ख का ही वेदन है। मुख में जब मिष्टान्न हो, उस समय जीव के रागरसरूप दु:ख का ही स्वाद आता है, मिष्टान्न का नहीं। यह अशुभ की बात हुई और जब शुभपरिणाम हो, शुक्ल लेश्या हो, उस समय भी अज्ञानी जीव दु:खी है। जहाँ सुख भरा है, उस वस्तु की उसे खबर नहीं है। मोक्ष में आकुलतारहित संपूर्ण सुख है, वहाँ किसी विषय (अशुभ-शुभ) की इच्छा नहीं है।

'मोक्ष में कुछ खाना-पीना आदि तो नहीं है!'—परंतु क्यों हो? वहाँ आकुलता ही कहाँ है। जहाँ खाने-पीने की कोई इच्छा ही नहीं, तब फिर वहाँ खान-पान का क्या काम है? 'आत्मा स्वयं सुखधाम है, फिर विषयों का क्या काम है?' जहाँ आत्मा के सहज सुख में लीनता है, वहाँ बाह्य पदार्थों की इच्छा क्यों हो? सुख तो आत्मा में से उत्पन्न होता है, बाह्य वस्तु में से सुख नहीं आता। बाह्य पदार्थों का उपभोग करने की कौन इच्छा करे?—कि जिस इच्छा

से दु:खी हो। जो स्वयं सुखी हैं, वे अन्य पदार्थों की इच्छा क्यों करें ? जो निरोगी हैं, वह औषधि की इच्छा क्यों करे ? मुक्त जीवों को जगत के सभी पदार्थों का ज्ञान है परंतु उन्हें इच्छा किसी की नहीं है; इच्छा न होने से दु:ख नहीं है; वे अपने चैतन्यसुख के वेदन में लीन हैं—ऐसी मोक्षदशा को पहचाने तो आत्मा के स्वभाव का ज्ञान हो, राग में या विषयों में सुख होने की बुद्धि छूट जाये, और उनसे भिन्न आत्मा का अनुभव हो। इसका नाम वीतराग-विज्ञान है।

जिन्हें ऐसा वीतरागविज्ञान नहीं है, विषयों में और राग में जिन्हें सुख लगता है, वह वास्तव में मोक्ष को नहीं चाहता, मोक्ष के स्वरूप को वह पहचानता भी नहीं, वह तो अज्ञान से राग को—विषय को ही चाहते हैं। अहो ! मोक्ष तो परम आनंद है, जगत के किसी भी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, अकेले आत्मा में से ही प्रगट होनेवाला पूर्ण आनंद है, ज्ञानी उसकी भावना करते हैं कि—

सादि-अनंत अनंत समाधि सुख है,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो...
—अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे ?

अज्ञानी को तो ऐसे मोक्ष का ज्ञान ही नहीं है, इसलिये अज्ञान से वह मोक्ष के नाम पर राग की ही भावना भाता है। (अज्ञान से वह पुण्य इच्छे-हेतु जो संसार का।) मोक्ष में राग रहित पूर्ण शांति है; यहाँ भी राग का जितना अभाव हुआ, उतनी ही शांति है। कोई बाह्य पदार्थ के उपभोग में से शांति नहीं आती; बाह्य पदार्थ तो जड़ और पर हैं, उनकी इच्छा दु:ख है; 'सुख' में किसी की इच्छा नहीं रहती; सुख तो आत्मा का स्वभाव है। ऐसा पूर्णसुख वह मोक्ष है।

मोक्ष में सिद्धभगवान क्या करते हैं ? वे सदैव अपने आनंद का उपभोग करते हैं। वे पर का कुछ करते नहीं हैं ? अज्ञानी कहते हैं कि—'जो हमारा कुछ भी न करें, ऐसे सिद्धभगवान से हमें क्या काम ? ऐसे सिद्धभगवान हमें नहीं चाहिए।' अर्थात् ऐसा मोक्ष ही हमें नहीं चाहिए, उसे तो पर की कर्तृत्वबुद्धि के मिथ्यात्व में भटकना है ! अरे भाई ! यहाँ तुम भी क्या करते हो ? पर का कार्य तो तुम भी नहीं कर सकते, तुम मात्र अपने में ही राग और अज्ञान करके दु:ख को भोगते हो; वह संसार है। सिद्धभगवान वीतराग-विज्ञान द्वारा परमसुख को भोगते हैं, वे निजानंद का अनुभव करते हैं और आकुलता किंचित् भी नहीं करते; वह मोक्ष है। सिद्ध

भगवंतों को स्वरूप में पूर्ण स्थिरता है, इसलिये पूर्ण सुखी हैं; साधक को भी स्वरूप में जितनी स्थिरता है, उतना सुख है। अज्ञानी को तो अपने स्वरूप की पहचान ही नहीं है, इसलिये रागादि परभाव में लीनता से वह दु:खी है। मोक्षसुख कैसा होता है, उसे वह पहिचानता भी नहीं। ज्ञानी राग से भिन्न अतीन्द्रिय चैतन्यसुखरूप मोक्ष के स्वाद को जानकर उसकी साधना करता है। उसे सिद्ध भगवान की सच्ची पहिचान है।

[गुजराती, आत्मधर्म, अंक 356, पृष्ठ 7 से 11 तक का अनुवाद]

प्रश्न:—बाह्य क्रिया और आभ्यंतर क्रिया का क्या अर्थ है ?

उत्तर:—वास्तव में ज्ञान की जो शुद्ध पर्याय है, सो आत्मा की आभ्यंतर क्रिया है और राग बाह्य क्रिया है; और उपचार से राग आभ्यंतर क्रिया है तथा शरीरादि की क्रिया बाह्य क्रिया है।

साधक जीवों की पर्याय में आज महावीर का शासन वर्तता है

[नियमसार, गाथा 47]

भगवान महावीर ने परमात्मा होकर ऐसा प्रसिद्ध किया है कि समस्त जीव परमात्मस्वरूपी हैं। ऐसे महावीर भगवान परमात्मा का शासन वर्त रहा है।—किसप्रकार वर्त रहा है? भगवान द्वारा प्ररूपित आत्मा का स्वरूप पहिचान कर उस श्रद्धा-ज्ञान-शांति में जो जीव वर्त रहे हैं, उन जीवों की पर्याय में महावीर का शासन वर्त रहा है... महावीर भगवान के द्वारा साधे हुए मार्ग में वे जीव चल रहे हैं।

हे भव्य जीव! तुम्हें यदि महावीर प्रभु के शासन में आना हो, महावीर के शासन को जीवंत रखना हो, तो भगवान के द्वारा कहे हुए अपने आत्मस्वरूप को तुम पहिचानो।—यही वीरप्रभु का महोत्सव है, यह वीरनाथ का शासन है—यह अवतार की सफलता है।

आज भगवान महावीर परमात्मा के जन्मकल्याणक का मंगल दिन है। भगवान ने आत्मसाधना पूर्ण करके जन्म-मरण का अंत किया और ऐसी अपूर्व सादि-अनंत सिद्धपर्याय महा आनंदरूप दशा प्राप्त की, इसलिये भगवान के जन्म को कल्याणक कहते हैं। भगवान का जन्म अपनी आत्मसाधना पूर्ण करने के लिये था।

जिसप्रकार भगवान का आत्मा है, उसीप्रकार समस्त आत्मा पूर्ण ज्ञानानंदस्वभावी हैं। आत्मा ऐसा परमात्मस्वरूपी है, ऐसा ज्ञान में लेने पर वीतरागी समभाव प्रगट होता है; किसी के प्रति राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं रहता।

भगवान ने अपने आत्मा की पूर्ण साधना की और अपने उपदेश में सर्व आत्मा का पूर्णानंदस्वरूप प्रसिद्ध किया है। पर्याय में रागादि होने पर भी रागरहित चेतनस्वभाव है, उस स्वभाव की दृष्टि और एकता द्वारा अज्ञान तथा राग-द्वेष को जीतकर भगवान 'जिन' हुए। ऐसा जो करे, वह जैन कहा जाता है। समस्त जीवों का स्वभाव भगवान समान है, उसे पहिचानकर मोह को जीतने पर जैनपना प्रगट होता है।

भगवान महावीर परमात्मा का शासन वर्तमान में वर्त रहा है। किसप्रकार वर्त रहा है।—कि भगवान के द्वारा बतलाये हुए आत्मा का स्वरूप पहिचानकर जो जीव श्रद्धा-ज्ञान-शांति में वर्तते हैं, उन जीवों की पर्याय में महावीर का शासन वर्त रहा है। महावीर भगवान के द्वारा साधे हुए मार्ग में वह जीव चल रहा है।

आत्मा का स्वरूप रागादि से रहित चिदानंदस्वरूप है, उसका अनुभव करके आत्मा की साधकदशा तो भगवान के जीव ने पूर्व के भवों में ही प्रारंभ कर दी थी। वह वृद्धिगत होते-होते आत्मा की पूर्णदशा की प्राप्ति के लिये यह अवतार था। भगवान संसार से वैराग्यमय तो थे ही और चैतन्य की अपूर्व शांति का वेदन करके सहज वैराग्यचित्तवाले हुए... वे चैतन्य में लीन होकर वीतराग हुए; फिर सर्वज्ञ हुए और बाद में दिव्यध्वनि द्वारा जगत को उपदेश दिया। उपदेश में ऐसा कहा है कि—

है सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही।
गुण आठ से जो है अलंकृत जन्म-मरण-जरा नहीं॥

अहा! देखो यह वीर प्रभु का उपदेश है! धर्मी जानता है कि सिद्धभगवान जैसे गुणों से मैं परिपूर्ण हूँ। ऐसे आत्मा की प्रतीत करके जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, क्लेशरहित सहज शांति का स्वाद ग्रहण किया, उस जीव का चित्त सहज वैराग्यपरायण होता है। अनादिकाल से अज्ञानभाव से राग में मग्न था, अब वह चैतन्य का स्वाद ग्रहण करके उसमें अनुरक्त हुआ है, और रागादि से उसका चित्त विरक्त हुआ है।—ऐसा भव्य जीव आसन्न भव्य है; और उसमें भी अति आसन्न भव्य जीव इस भव में ही सिद्धदशा को साधता है।

इस संसार में भव-भ्रमण करते हुए परभावों के दु:खवेदन से जिसे अरुचि जागृत हुई है, जिसे भव का त्रास लगा हो, वह जीव अंतर में चैतन्य को शोधकर उसमें विश्राम करता है।

अरे, जीव अब इस भवदु:ख (संसार-भ्रमण) से थक गया है, चारों गति के भव में आकुलता का त्रास (दु:ख) है; चतुर्गति भ्रमण के समय मैंने पूर्व में कभी भी चैतन्य की शांति का स्वाद ग्रहण नहीं किया। अब इस अज्ञानमय संसार से बस हो, इस दु:ख से बस हो, अब हमने अपने आनंद मंदिर में प्रवेश किया है, और उसमें ही मग्न होने के लिये अत्यंत वैराग्य चित्तवाला होकर अब मुनि होना चाहते हैं।—ऐसे सहज वैराग्य चित्तवाला जीव परमगुरु के प्रसाद से द्रव्यलिंग और भावलिंग धारण करके मुनि होता है, इसलिये उसकी परिणति सहजरूप से अंतर में लीन हो जाती है।

वाह रे वाह, देखो यह वीरप्रभु के शासन की वीतरागी बात है। अहा! मुनिदशा की बात। 'सर्व जीव हैं सिद्धसम' अर्थात् मेरा आत्मा सिद्ध भगवान समान है, ऐसा दृष्टि को अनुभव हुआ है, आनंद का अनुभव प्रगट हुआ है, तदुपरांत अंतर में तरंगों का उमंग उठने से मुनिदशा होती है। भगवान महावीर ने तीस वर्ष की उम्र में ऐसी मुनिदशा प्रगट की थी। देखो, यह वीर का मार्ग! संसार से थक कर वे विरक्त हुए और आत्म-साधना पूर्ण करने के लिए मुनि हुए, यह जीवन में करनेयोग्य कार्य है। आत्मा को भव से पार करने और पूर्णानंद प्राप्त करने के लिये ही प्रभु का अवतार था। दूसरों को तार देने के लिए उनका अवतार नहीं था। अन्य जिन जीवों ने भगवान के मार्ग का ग्रहण किया, वे भव से पार हो गये। सम्यग्दर्शन हुआ, तभी से आत्मा को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष करते हुए अंतर में आनंद का तरंग प्रारंभ हुआ... उसी स्वभाव में लीनतारूप परमागम के अभ्यास द्वारा वीतराग होकर सिद्धपद प्राप्त किया। ऐसे मार्ग की वीरप्रभु ने स्वयं साधना की है और ऐसा ही मार्ग जगत को दर्शाया है। अनंत जीव ऐसे मार्ग की साधना करके सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं, वे केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख और केवलवीर्य स्वरूप हुए हैं, इसलिये वे कार्यशुद्ध परमात्मा (कार्यसमयसार) हैं; और शुद्ध निश्चय से समस्त संसारी जीव भी वैसे ही हैं, समस्त जीव कारणसमयसार हैं, कारणपरमात्मा हैं।—ऐसे स्वभाव को पहिचानने से उसके आश्रय से आसन्न भव्य जीव सिद्ध परमात्मा हुए हैं—इसप्रकार शुद्धकारण को पहिचानकर उसके सेवन से शुद्धकार्य हो जाता है।

सिद्धभगवान को जैसे अनंत गुण प्रगट हुए हैं, वैसे ही अनंत गुण मुझमें वर्त रहे हैं; सिद्धभगवान को जैसा पूर्ण आनन्दरूप कार्य प्रगट हुआ, वैसे कार्य का कारण मुझमें भी

विद्यमान है—इसलिये शुद्धनय से मुझमें और सिद्ध में कोई अंतर नहीं है; इसप्रकार धर्मी अपने आत्मा को शुद्धरूप अनुभव करता है, पर्याय में विभाव होने पर भी उससे रहित शुद्ध परमात्मस्वरूप हूँ—ऐसा धर्मी अनुभव करता है। ऐसा अनुभव ही वीर का मार्ग है। वीरमार्ग में परमात्मा की वाणी है कि हे जीव! परमात्मस्वभाव के आश्रय से ही तुम्हें सम्यग्दर्शन आदि होते हैं, उसके अतिरिक्त अन्य किसी के आश्रय से कभी सम्यग्दर्शनादि नहीं होते हैं। वीर का मार्ग अर्थात् सिद्धि का मार्ग आत्मा के ही आश्रय से है, पर के आश्रय से वीर का मार्ग नहीं, पर के आश्रय से होता हुआ भाव सिद्धि का कारण नहीं।—अहा, ऐसे सुंदर मार्ग को महान भाग्य से प्राप्त करके, हे जीव! तुम आत्मा के परमानंद को प्राप्त करो।

यह तो सिद्धप्रभु के देश में जाकर निवास करने की बात है। सांसारिक लोगों को परदेश में जाने की बात रुचती है—लेकिन यह तो स्वदेश में रहकर सुखी होने की बात है। सिद्धदशा ही आत्मा का सच्चा स्वदेश है, उसमें आत्मा का सच्चा वैभव है, उसमें ही परम सुख है। अहो, मेरे श्रीगुरु ने प्रसन्न होकर हमें ऐसा अद्भुत वैभव बतलाया।—ऐसे परमगुरु के प्रसाद से 'परमागम के अभ्यास द्वारा' इसलिये परमागम में दर्शाये हुए ज्ञानस्वरूप के अभ्यास द्वारा वैराग्यवंत आसन्न भव्य जीव सिद्धक्षेत्र को प्राप्त होते हैं... अपने असंख्य प्रदेश में सिद्धदशा के महा आनंदरूप परिणमित हुआ, केवल ज्ञानादि आठ महागुणों के वैभव से आनंदमय हुए।—ऐसा आनंदमय वैभव जगत के सब जीवों में है—ऐसा वीर प्रभु ने कहा है और भगवान द्वारा बतलायी विधि से वह आनंदमय सिद्धपद की साधना की जाती है। हे जीव! वीरशासन में तुम ऐसे आनंदमय सिद्ध पद की साधना करो... आज ही साधना करो।

[गुजराती-आत्मधर्म 355, पृष्ठ 9 से 12 तक का अनुवाद]

प्रश्न—चैतन्य की क्रिया किसमें होती है और किसमें नहीं होती?

उत्तर—चैतन्य की क्रिया चैतन्य में होती है, जड़ में नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि का अद्भुत पराक्रम

स्वभाव की श्रद्धा में ऐसा महान बल है कि किसी भी प्रसंग में भयभीत होने पर ज्ञानी आत्मबोध से चलित नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि की आत्मदशा ऐसी अद्भुत होती है कि वज्रपात हो और तीन लोक भय से कम्पायमान हो जाये तो भी उसे अपने आत्मस्वरूप में शंका नहीं होती। नि:शंक एवं निर्भयरूप से वे अपने को ज्ञानस्वरूप ही वेदन करते हैं। वज्रपात आदि से मेरे स्वरूप का नाश हो जायेगा—ऐसा भय उसे नहीं होता। स्वभाव की श्रद्धा में नि:शंकता का कोई अपार सामर्थ्य है। ऐसा अद्भुत पराक्रम सम्यग्दृष्टि को ही होता है। सम्यग्दृष्टि की ऐसी अद्भुत दशा का स्वरूप आचार्यदेव ने समयसार के 164 वें कलश में समझाते हैं—

सम्यग्दृष्टि की ज्ञान-वैराग्य शक्ति अलौकिक होती है। स्वभाव की नि:शंकता के कारण उसे अत्यंत निर्भयता होती है। जिसके भय से तीन लोक में खलबली हो जाये, ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वरूप को अबध्य जानते हैं, इसलिये 'मेरा नाश हो जायेगा' ऐसी कोई शंका या भय उसे नहीं होता। बाह्य में कदाचित् सिंहादिक को देखकर भय से भागते हुए दिखाई दे, किंतु उस समय भी अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा में तो वे ज्ञानी नि:शंक और निर्भय ही हैं। और अज्ञानी कदाचित सिंहादि को देखकर भागे नहीं तो भी उसके अंतर में देह से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप का वेदन न होने से उस समय भी वह शंका और भय में ही वर्त रहा है; राग के बिना एवं संयोग के बिना मेरा आत्मा कैसे टिकेगा ?—ऐसा भय और शंका उसे बनी ही रहती है। तथापि ज्ञानी तो सदैव नि:शंक है कि मैं राग एवं संयोग के बिना ही मेरे चैतन्यस्वरूप से सदैव टिकनेवाला हूँ, मेरा चैतन्यस्वरूप सदैव जीवंत है; मेरे चैतन्यस्वरूप का नाश करने को संसार में कोई सामर्थ्य नहीं है—ऐसी नि:शंकता होने से ज्ञानी को सदैव निर्भयता है, उसे मरणादि का भय नहीं। मैं ज्ञान हूँ—ज्ञान का मरण ही नहीं, तब मरण का भय कैसा ? ऐसा निर्भयपना सम्यग्दृष्टि को ही होता है। चाहे जैसे शुभाशुभ प्रसंग आये, या अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आये, किंतु ज्ञानी अपने को उन सबसे अत्यंत भिन्न ज्ञानरूप ही अनुभव करता हुआ ज्ञानरूप ही रहता है। यह मोक्ष का पुरुषार्थ है, और यही सम्यग्दृष्टि का अद्भुत पराक्रम है।

मेरा ज्ञानस्वभाव स्वयं अपने से ही टिकनेवाला शाश्वत है, ऐसे अनुभव के कारण ज्ञानी स्वभाव से ही निर्भय होते हैं। वज्र पड़े या कुछ भी हो जाये, लेकिन जो वस्तु अनुभव में आयी है, उससे ज्ञानी चलित नहीं होते; उन्हें ऐसा भय नहीं होता कि अरे, मेरा नाम हो जायेगा!—या प्रतिकूलता की भींस में मेरे श्रद्धा-ज्ञान बिगड़ जायेंगे? यह निर्भयरूप से अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा करते हैं, उसका ज्ञान करते हैं। आत्मवस्तु स्वयं स्वभाव से ही निर्भय है, किसी के द्वारा नाश न हो सके, ऐसा शाश्वत ज्ञानस्वभाव है; ऐसे स्वभाव का अनुभव होने से धर्मी के आत्मा में समस्त शंका का अभाव है, इसलिये भय का अभाव है। बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता ज्ञानस्वभाव में कहाँ है? वह अनुकूल-प्रतिकूल संयोग ज्ञान को स्पर्श भी नहीं करते। और शुभ-अशुभ रागादि भी ज्ञानस्वभाव से स्पर्श नहीं करते हैं। ऐसा ज्ञानस्वभाव मैं हूँ—ऐसा अनुभव करने से ज्ञानी को सहज निर्भयता होती है। प्रतिकूलता के भय से कदाचित् स्वर्ग के देवों में भी खलबली मच जावे तो भी धर्मात्मा अपने स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से विचलित नहीं होते, उसमें शंका करते नहीं, ऐसा भय करते नहीं कि अरे, क्या मेरा नाश हो जायेगा? प्रतिकूलता द्वारा मेरे श्रद्धा-ज्ञान का घात हो जायेगा? स्वभाव में निःशंक रहनेवाले वे धर्मात्मा अपने आपको स्वयं सुरक्षित ज्ञानशरीरी अनुभव करते हैं, ज्ञान ही मेरा शरीर है, वह मेरे से कभी अलग नहीं होता, और न किसी से द्वारा उसका घात हो सकता है। जड़ शरीर मेरा नहीं है, उसका तो विनाशिक स्वभाव है। इसप्रकार ज्ञानस्वरूप के वेदन से धर्मी जीव कभी च्युत नहीं होते।

प्रतिकूल संयोग, दुष्काल, निंदा, रोग, युद्ध इत्यादि से संसार में खलबली हो जाये—किंतु उससे ज्ञान को क्या? ज्ञान में प्रतिकूलता कहाँ है? कोई झूठा आरोप लगा दे, उससे ज्ञान में क्या बिगड़ जाता है? मैं कहाँ जाऊँगा, मेरे ज्ञान का क्या होगा?—ऐसी शंकारूप भय ज्ञानी को नहीं होता। बाहर से कदापि भागते हो, विलाप करते हो—किंतु उस समय ज्ञानस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-आनंद में से वे च्युत नहीं होते, उसमें शंका नहीं करते, ज्ञान के नाश का भय नहीं करते। अहा, ज्ञानी के श्रद्धा-ज्ञान की अचिंत्य ताकत है! उसकी जगत को खबर नहीं है।

मेरा आत्मा शाश्वत चैतन्यघन, उसके एक भी प्रदेश को कोई खंडित नहीं कर सकता;

ज्ञानस्वभाव का नाश किसी से नहीं हो सकता, तथा उस स्वभाव के आश्रय से जो श्रद्धा-ज्ञान-आनंद हुआ, उसका भी कोई नाश नहीं कर सकता; अत: ज्ञानी के सहज निर्भयपना है। ज्ञान की रक्षा के लिये कोई उपाय नहीं करना पड़ता, क्योंकि मेरा ज्ञान सहज स्वभाव से ही शाश्वत है, उसका किसी से घात नहीं हो सकता।

श्रेणिकराजा ने अंत समय में आपघात किया—किंतु उस समय भी उनके अंतर में स्वभाव की श्रद्धा विद्यमान थी, उसका घात नहीं हुआ, क्षायिक सम्यग्दर्शन भी उस समय विद्यमान था; स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान में उस समय भी वे नि:शंक एवं निर्भय थे। धर्मी की ऐसी अद्भुत दशा बाह्य से नहीं पहचानी जाती। अज्ञानी युद्ध वगैरह बाह्य कार्यों में कदाचित निर्भय दिखाई दे परंतु अंतर में चैतन्य के भान के बिना सच्ची निर्भयता उसे नहीं होती। देह के नष्ट होने पर मेरा भी नाश हो जायेगा—ऐसी देहबुद्धि का होना, वह सबसे बड़ा भय है। जिसने देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व जान लिया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जगत की किसी कोलाहल के बीच में भी अपने स्वभाव में निर्भय रहता है... समस्त संसार कंपित हो जाये तो भी धर्मात्मा अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता। ऐसा अद्भुत पराक्रम सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

श्रीकृष्ण धर्मात्मा थे, उन्हें आत्मा का ज्ञान था; वे तीन खंड के अधिपति महापुण्यवंत अर्ध-चक्रवर्ती वासुदेव थे, हजारों देव उनकी सेवा करते थे; द्वारकानगरी देवों के द्वारा रची गई थी; किंतु जब पुण्ययोग पूरा हुआ और द्वारिकानगरी जलने लगी, तब श्रीकृष्ण-बलभद्र जैसे महान योद्धा भी उसे नहीं बचा सके; अरे, माता-पिता अग्नि में जलते थे, उन्हें भी वे बाहर न निकाल सके; सेवा करनेवाला कोई देव भी उस समय नहीं आया। छह मास तक द्वारकानगरी जलती रही; अनेक जीव आग में भस्म हो गये; यह देखकर श्रीकृष्ण बलभद्र के कंधे पर सिर रखकर रोते हैं; किंतु ऐसे समय में भी धर्मात्मा अपने चिदानंद तत्त्व के श्रद्धा-ज्ञान में अत्यंत नि:शंक एवं निर्भय रहते हैं; उनके श्रद्धा-ज्ञान जल नहीं जाते। द्वारका भले ही दग्ध हो गई परंतु मेरा ज्ञान दग्ध नहीं हुआ; वह तो अवध्य है, उसे कोई जला नहीं सकता। कोई शुभ-अशुभ कर्म के उदय के काल में भी धर्मात्मा-ज्ञानी अपने ज्ञान-आनंद भावरूप ही परिणमित होते हैं। हर्ष-शोकादि शुभाशुभ परिणाम हो तो भी ज्ञान को उससे भिन्न ही रखते हैं। ज्ञानी का ऐसा अद्भुत अचिंत्य सामर्थ्य है, उसे अज्ञानी नहीं पहचान सकता। अरे, ज्ञान किसको कहा जाये! क्या वह

किसी राग से या संयोग से चलित हो जायेगा ?—कभी नहीं; ज्ञान तो संयोग एवं रागादि भावों से पृथक् रहते हुए अपने चैतन्यभाव में अचल रहता है, 'मैं आनंदमय चैतन्यतत्त्व हूँ'—ऐसे श्रद्धा-ज्ञान से वह जरा भी नहीं डिगता। उसका ज्ञान सदैव आनंद का ही वेदन करता है।

धर्मी चाहे समवसरण के मध्य में बैठा हो या सातवीं नरक के संयोग में हो, वह सम्यग्दृष्टि अपने को ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करता है। हजारों बिच्छू के जहरीले डंक की वेदना के मध्य में भी सम्यग्दृष्टि ऐसा साहसी है कि अपने ज्ञानानंदस्वरूप से जरा भी नहीं डिगता, और उस समय भी अंतर में ज्ञानस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान द्वारा स्वरूप की अपूर्ण शांति का वेदन करता है; उसका ज्ञान असाता के उदय से भिन्न रहता है। अल्प राग-द्वेष है, दु:ख है किंतु वह ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा में उसका प्रवेश नहीं होने देता। उसीप्रकार हजारों देव सेवा में हाजिर हो—साता की सब अनुकूल सामग्री हो तो भी धर्मी जीव अपने ज्ञान में उस साता के उदय को स्पर्श नहीं होने देते, वह ज्ञान को उससे भिन्न ही अनुभव करता है। लाखों बिच्छू डसे या करोड़ों देव सेवा करे—उससे ज्ञान को क्या ? सम्यग्दृष्टि तो अपने को ज्ञानरूप ही अनुभव करता है, ज्ञान के साथ आनंद-शांति का वेदन भी है। धर्मी की ऐसी अद्भुत ज्ञानदशा वह निर्जरा का कारण है।

जिसके गिरने से हिमालय जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी चूर-चूर हो जाये, ऐसा वज्रपात शरीर के ऊपर हो तो भी धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वरूप से चलायमान नहीं होते। विभाव और स्वभाव दोनों को भिन्न-भिन्न जानता हुआ वह नि:शंकतया अपने को ज्ञानस्वभावरूप ही अनुभव करता है। राग और शरीर मुझमें है ही नहीं, अत: उसके परिवर्तन से मेरा ज्ञान अन्यथा नहीं हो जाता।—ऐसी श्रद्धा के बल से धर्मी का ज्ञान राग के साथ एकत्वरूप नहीं होता, वहाँ संयोग की तो बात ही कहाँ रही ? जगत के किसी वज्रपात में ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरे ज्ञानस्वरूप नाश कर सके। शरीर का नाश, वह तो उसका स्वभाव है, परंतु उसके नाश से कहीं मेरा तो नाश नहीं हो जाता। अहो, मैं तो शुद्ध आनंदकंद हूँ—ऐसी अनुभव सहित प्रतीत धर्मी को निरंतर वर्तती है।

जिसने रागरहित अपनी ज्ञानचेतना का आनंद सहित अनुभव किया है, ऐसे धर्मात्मा को कर्मफल की अभिलाषा नहीं होती, उसमें अपनेपन की बुद्धि नहीं होती; कर्मफल चेतना से

भिन्न ऐसी ज्ञानचेतनारूप ही वह स्वयं अनुभव करता है। बाह्य संयोग अच्छे हों तो मेरा श्रद्धा-ज्ञान टिके, ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं होती। यह प्रतिकूलता तो कब तक रहेगी? अल्पकाल में मिटकर अनुकूलता आ जायेगी और वह मुझे ठीक लगेगी—ऐसी संयोगबुद्धि धर्मी को नहीं होती। किसी धर्मात्मा को कदाचित ऐसा लक्ष में आया कि आगे चलकर हमें तीर्थंकर नामकर्म बँधनेवाला है और मैं तीर्थंकर होनेवाला हूँ, परंतु धर्मी को उस तीर्थंकर प्रकृति के कर्मफल की भावना नहीं होती है, उसमें किंचित् भी आत्मबुद्धि नहीं होती; वह तो अपने आत्मा को कर्मप्रकृति एवं उसके फल से भिन्न ऐसी ज्ञानचेतना स्वरूप ही निरंतर देखता है। अहा, धर्मी का मार्ग तो संसार से निराला है। जिस मार्ग पर धर्मी चल रहा है, वह मार्ग संसार से छुड़ानेवाला और पूर्णपदरूप मोक्ष तक पहुँचानेवाला है; उसके बीच में कोई विघ्न या संयोग रुकावट करे—ऐसा नहीं है। अहा, ऐसे आत्मा को जाननेवाला धर्मात्मा शुभ-अशुभ समस्त कर्मों से एवं समस्त कर्मफल से अत्यंत निरपेक्ष रहता है। मेरे ज्ञान में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है; मेरा ज्ञान संयोग की भींस में दब जायेगा, ऐसा नहीं है। और जो मेरा नहीं—ऐसा शरीरादि में कुछ भी हो—उससे मुझे क्या? जो मेरा है, उसमें तो संयोग का कोई असर होता नहीं;—इसप्रकार धर्मात्मा ने अपनी दृष्टि को स्वतत्त्व में जोड़ दिया है; अन्य सबसे दृष्टि हटाकर एक ज्ञानमय स्वतत्त्व में ही लगा दी है; ऐसी दृष्टि में धर्मी को कोई विघ्न नहीं है; वह उदय से भी पृथक् रहता हुआ उदय की भी निर्जरा कर देता है। सम्यग्दृष्टि की ऐसी अद्भुत दशा होती है।

अरे, चैतन्य के अमृत का स्वाद जिसने चाख लिया, उसे बाह्य के किसी भी पदार्थ की भावना क्यों होगी? सबमें से सुखबुद्धि उसे हट जाती है। अस्थिरता का जो राग है, वह चैतन्य की दृष्टि को नुकसान नहीं कर सकता। धर्मी जीव अपने चैतन्यस्वभाव में अत्यंत दृढ़ निश्चयवाला होता है, उसे कोई डिगा नहीं सकता। समस्त विश्व से भिन्न मैं अकेला हूँ, मेरे सुख की संपूर्ण साधन सामग्री मेरे आत्मा में है, उसके लिये अन्य किसी की अपेक्षा मुझे नहीं है—ऐसा आत्मविश्वास धर्मी के अनुभव में आया है। उसने अपने चैतन्यदरबार को देख लिया है, उसे अपने प्रभु का मिलन हो गया है। अत: अपने में नि:शंक एवं निर्भय रहता हुआ वह ज्ञान-आनंद का वेदन करता है; ऐसे ज्ञान के वेदन के बल से कर्मों की निर्जरा करता हुआ वह मोक्ष को साधता है। (यह लेख गुजराती-आत्मधर्म, अंक 356, पृष्ठ 12 से 16 का अनुवाद है।)

धर्मात्मा ज्ञानी क्या करते हैं?

ज्ञान की ज्ञानदशा कैसी अद्भुत होती है, और उसका ज्ञान क्या कार्य करता है ?—राग करता है कि आनंद करता है ? यह यहाँ समझाया है। ज्ञान और राग का सर्व प्रकार से पृथक्करण करके ज्ञानी की अद्भुत दशा की पहचान कराई है।

[समयसार, कलश 153]

जिसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं है, अर्थात् आत्मा के सच्चे आनंद का स्वाद भी जिसको नहीं है, ऐसा अज्ञानी जीव शुभ-अशुभ कर्म को करता हे और उसके फल की इच्छा करता है। अज्ञानी को आत्मसुख का अनुभव नहीं, इसलिये वह व्रतादि जो कुछ करता है, वह कर्मफल की वांछा से ही करता है। वह राजपाट-घरबार त्याग कर त्यागी हुआ हो और शुभराग करता हो परंतु वह राग में और उसके फल में ही रुका हुआ है कि इससे मुझे कुछ लाभ होगा। उसे राग का ही अनुभव है, राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव उसे नहीं है; इसलिये उसे चार गतिरूप संसार फल ही मिलता है, सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षसुख का स्वाद नहीं आता।

मिथ्यादृष्टि की सर्व क्रियाएँ (अशुभ या शुभ) संसार के लिये सफल हैं, और मोक्ष के लिये निष्फल हैं, क्योंकि वह अज्ञानक्रिया है।

सम्यग्दृष्टि की जो ज्ञानक्रिया है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो वीतरागी क्रिया है, वह संसारफल (स्वर्गादि) की देनेवाली नहीं है परंतु मोक्षफल को देनेवाली है।

अरे जीव! तेरे आत्मा की धर्मक्रिया कैसी है, उसे भी तू नहीं जानता, और संसार के कारणरूप रागक्रिया को तू धर्मक्रिया मान रहा है। राग से भिन्न चैतन्य का वीतरागी स्वाद धर्मी को आया है, वह धर्मी रागादि की क्रिया को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानता है; इसलिये रागादि के फल की इच्छा नहीं। इन क्रियाओं का फल मुझे कुछ सुख का कारण होगा या मोक्ष

का साधन होगा—ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं होती।

धर्मात्मा को राग के फल की इच्छा नहीं होती तो फिर वे राग को क्यों करते हैं ?—ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव 153 वें कलश में समाधान करते हैं कि—अरे जीव! ज्ञानी राग करता है—ऐसा तुझे तेरी अज्ञानदृष्टि से दिखता है; सचमुच में ज्ञानी ज्ञानभावरूप ही होता हुआ ज्ञान का ही कर्ता है, उसके ज्ञानपरिणमन में राग का कर्तृत्व किंचित् भी नहीं है। ज्ञानपरिणमन में आनंद की धारा बहती है। ज्ञानी राग करते हैं कि नहीं करते—यह बात ज्ञान के बिना तू कैसे जानेगा ? ज्ञानी क्या करते हैं—उनके अंतर की पहचान अज्ञानी को नहीं होती। अहा, जिनका पर्याय में चैतन्यसमुद्र उल्लसित होकर आनंद की बाढ़ आई है, और जिन्होंने रागादि भावों को अपने चैतन्यसमुद्र से बाह्य देखा है—ऐसे ज्ञानी राग को करे—यह बात हम नहीं मानते; ज्ञानी की दशा में तो अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद की धारा उल्लसित होती हुई दिखाई देती है; राग तो ज्ञानधारा से बाहर ही दिखता है; उस राग का कर्तृत्व ज्ञानी के ज्ञान में नहीं है। परंतु ऐसी भिन्नता को ज्ञानी ही पहचान सकते हैं। अहा, ज्ञानी की ज्ञानदशा में तो अतीन्द्रिय आनंद के अनुभव की छाप लग गई है; उस आनंद में अब राग कैसा ? सुख के वेदन में दु:ख का कर्तृत्व कैसा ? जब आत्मा का ऐसा स्वाद आया, तभी जीव धर्मी हुआ, तभी ज्ञानी हुआ, तभी सच्चा जैन बनकर वीतराग भगवान के मार्ग में आया। आत्मा के आनंद का ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थानवाले गृहस्थ को होता है। धर्मी जीव अपने ज्ञान को रागादि से अत्यंत भिन्न जानते हैं; वे कर्ता होकर राग को करे या राग के फल को भोगवे—ऐसा माना नहीं जा सकता। अस्थिरतावश कुछ रागादि हो जाता है, उसमें ज्ञान का तो कोई दोष नहीं है, ज्ञान उसका कर्ता नहीं है। ज्ञान व राग साधक की दशा में एक साथ रहे, इतने मात्र से उनमें कर्ता-कर्मपना लागू नहीं हो जाता। दोनों के साथ में रहने में कोई विरोध नहीं है—किंतु उनमें से ज्ञान तो मोक्ष का ही कारण है, और राग बंध का कारण है।—ज्ञानी के वेदन में उन दोनों की अत्यंत भिन्नता सदैव वर्तती है।

ऐसे भेदज्ञान के उपरांत अत्यंत आनंदमय स्वसंवेदन होने पर मुनिदशा प्रगट होती है। भेदज्ञान के बिना अकेले द्रव्यलिंगरूप मुनिपना तो अज्ञानी जीव ने अनंत बार धारण किया परंतु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावलिंग उसने कभी प्रगट नहीं किया। भावलिंग एक जीव को अधिक से अधिक (सब भवों में मिलाकर) 31 बार आ सकता है, उसके बाद वह अवश्य

मोक्ष को पाता है। द्रव्यलिंग तो बहुत जीवों ने अनंत बार धारण किया और नववें ग्रैवेयक तक गये परंतु सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष का साधन कुछ भी नहीं हुआ, उसे सुख की प्राप्ति अंशमात्र भी न हुई। द्रव्यलिंग धारण करके भी अज्ञानी ने केवल दु:ख ही पाया। अंतर में सर्व विभावों से पार जो आनंदमय चैतन्यतत्त्व विद्यमान है, उसके अनुभव से ही मोक्ष का मार्ग खुलता है और राग के फल की इच्छा मिट जाती है। अरे, एकबार तो राग से पार होकर अपने चैतन्यसुख को लक्ष में ले! उसका स्वाद चखते ही तुझे सारा संसार एवं समस्त रागादिभाव अत्यंत नीरस बेस्वाद लगेगा, और चैतन्य का कोई परम अद्भुत महिमा तुझे अपने में अनुभव होगा। संतों ने परमागम में जिसका अपार महिमा गायी है, वह परम तत्त्व तू स्वयं है—उसको लक्ष में लेना ही परमागम का सार है।

राग भाव तो जीव अनादिकाल से कर ही रहा है; उसका फल संसार है। राग करना, उसमें कहीं वीरता नहीं है; सच्ची शूरवीरता तो यह है कि राग से भिन्न वीतरागी चैतन्यभाव प्रगट करना। भेदज्ञान द्वारा आनंदमय चैतन्यपरिणति का होना ही सच्चा पुरुषार्थ है, वही मोक्ष के लिये सच्चा पराक्रम है। समकिती धर्मात्मा शूरवीरता द्वारा मोक्षमार्ग को साधते हैं; उनकी ज्ञानचेतना राग से भिन्न अन्य कार्य करती है, वह बाह्य से देखने में नहीं आती। परंतु दूसरा कोई उसको देखे या न देखे—उसकी अपेक्षा ज्ञानी को कहाँ है ? वह तो जगत की अपेक्षा छोड़कर स्वयं अपने में अकेले ही अकेले ज्ञानचेतना का आनंद ले रहा है; आनंद का स्वाद लेते हुए वह भगवान के मार्ग पर आगे चला जा रहा है।

धर्मी अपने परम ज्ञानस्वभाव में अकंप स्थिर है; राग के समय भी उनका ज्ञान अपने स्वभाव से भ्रष्ट नहीं हो जाता। खाते-पीते-बोलते-प्रति समय उसका ज्ञान तो ज्ञान भाव में ही है; ज्ञान, राग में नहीं चला जाता। ज्ञानपर्याय प्रगट हुई, वह राग में तन्मय नहीं होती। चैतन्यस्वभाव की अपूर्व शांति के वेदन में राग का वेदन कैसे हो ? शांति के बर्फ में कषाय की अग्नि कैसे हो ? जिसप्रकार लौकिक में रोग की वेदना अच्छी नहीं मानी जाती, उसीप्रकार राग तो चैतन्य में रोग जैसा है, उसके वेदन को धर्मी अच्छा नहीं मानते। धर्मात्मा की ज्ञानचेतना शुभाशुभराग या हर्ष-शोक से पृथक् ही रहती है, वह ज्ञानचेतना रागादि को नहीं करती। धर्मी के अनंतगुण में जो सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव प्रगट हुए हैं, वे सब राग से भिन्न मुक्त ही है,

मोक्षसुख का प्रतिभास उनके वेदन में आ चुका है। अहो, धर्मात्मा के ऐसे कार्य को अज्ञानी कैसे पहिचान सकते? ज्ञानी तो अपने अंतर में अपना कार्य कर ही रहे हैं—उसे अन्य कोई जाने कि न जाने—इससे क्या? ज्ञानी तो जगत की अपेक्षा छोड़कर निरपेक्ष भाव से मोक्ष के मार्ग को साध रहे हैं। जगत के सामने देखकर या राग के सामने देखकर बैठे रहना, वह तो कायरता है, ऐसे कायर जीव भगवान के मार्ग को नहीं साध सकते। वीतरागभाव से मोक्षमार्ग को साधना, यह तो वीरों का कार्य है। राग से भिन्न होकर स्वयं अपने चैतन्य के आनंद को अनुभव में लेना—क्या राग या विकल्प से हो सकता है?—नहीं; वह अंतर के भेदज्ञान के द्वारा राग से भिन्न होकर चैतन्य के स्वसंवेदन से ही होता है। ऐसा अपूर्व स्वसंवेदन करनेवाले धर्मात्मा-ज्ञानी के अद्भुत कार्य को कोई विरले ही पहचानते हैं; और ऐसी अद्भुत ज्ञानदशा को जो पहचानते हैं, वे स्वयं राग से भिन्न ज्ञानचेतनारूप होकर संसार के जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं। (गुजराती-आत्मधर्म : अंक 356, पृष्ठ 17 से 20 का हिन्दी अनुवाद)

आत्मा का जीवन चैतन्य से है, शरीर से नहीं

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है, जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़ प्राण कहीं आत्मा के जीवन का कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़ प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो आत्मा से वे भिन्न क्यों रहें? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं; आत्मा का अस्तित्व अपने चैतन्य भावप्राण से ही है; ऐसे चैतन्यजीवन को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसे? इसप्रकार धर्मी जीव मरण के भय से रहित निःशंक तथा निर्मल परिणमन करता है। जगत मरण से भयभीत है—परंतु ज्ञानी को तो आनंद की लहर है, क्योंकि प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है।

हे भव्य! तुम चेतनस्वरूप आत्मा को जानो

शास्त्र के श्रवण-पठन का सच्चा फल सम्यक्त्वादि भावशुद्धि ही है

अहो, अतीन्द्रिय आत्मा के स्वसंवेदनपूर्वक निकली हुई वीतरागी संतों की वाणी!—मानो चैतन्य की कोई गहरी गुफा में से आत्मअनुभव की मधुर वायु बहा रही हो!—ऐसी गंभीरतारूप आत्मस्वरूप दिखलाती है। वाणी में भी चैतन्य के झंकार की इतनी मधुरता... अहो! उस चैतन्य के अनुभवरस की तो क्या बात? संत कहते हैं कि ऐसे आत्मा का तुम स्वसंवेदन द्वारा अनुभव करो।

[भावप्राभृत, गाथा 64-65]

हे भव्य! तुम जीव का स्वरूप चेतनमय जानो। शब्द-रस-रूप-गंध-वर्ण इत्यादि जड़ के स्वभाव हैं, वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। खट्टा-मीठा आदि पाँच प्रकार का जो रस है, वह पुद्गल का स्वभाव है, वह आत्मा का रस नहीं है। आत्मा का स्वभाव उसको जाननेवाला है, परंतु आत्मा उस रसरूप नहीं होता। आत्मा का स्वभाव रस से भिन्न अरस है; ऐसे अरस स्वभाव को, अर्थात् रस से भिन्न अतीन्द्रिय चेतनागुण को तुम अपने स्वसंवेदन द्वारा जानो।

आत्मा का स्वभाव ज्ञायक है, रसादि को जानने का उसका स्वभाव है, परंतु वह स्वयं रस स्वरूप नहीं हो जाता। यदि आत्मा रसरूप हो जाये तो वह रस के साथ तन्मय हो जाये अर्थात् आत्मा जड़ हो जाये। परंतु ऐसा कभी नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। किसी का द्रव्य-गुण-पर्याय दूसरे रूप नहीं हो सकता।

जैसे सिद्धभगवान हैं, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। जैसे सिद्धभगवान में रूप-रस-गंध नहीं हैं, वैसे इस आत्मा में भी नहीं हैं। सिद्धभगवान की तरह यह आत्मा अतीन्द्रिय चैतन्यरूप है। जड़ किसी प्रकार चेतनरूप नहीं होता, एवं चेतन किसी प्रकार जड़रूप नहीं होता। आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्ता नहीं होता। आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव का कर्ता है परंतु परस्वभाव का कर्ता नहीं है। पुद्गल के रस की उत्पत्ति आत्मा से नहीं होती, आत्मा से तो अपनी ज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है। उसको चखा, ऐसा कहा जाता है परंतु पुद्गल

के रस का स्वाद आत्मा में नहीं आ जाता, आत्मा रसरूप नहीं हो जाता, परंतु रस से भिन्न अपने ज्ञान परिणामरूप होता हुआ आत्मा रस को जानता है। इसप्रकार चेतनस्वरूपी आत्मा अरस है, उसे तुम जानो... चेतनरूप होकर स्वसंवेदन से तुम अपने आत्मा को जानो।

आत्मा खट्टा-मीठा-कड़वा रस का ज्ञान कर सकता है परंतु वे रस आत्मा में नहीं आ जाते। आत्मा रसरूप हुये बिना उन्हें जानता है। यद्यपि राग आत्मा की पर्याय में होता है परंतु शुद्धस्वभाव से देखने पर राग भी आत्मा के चेतनस्वभाव में नहीं है; वह तो विभाव है, चेतनस्वभाव से भिन्न है; उसका स्वामीत्व धर्मात्मा को नहीं है। जैसे सिद्धभगवान वीतरागी हैं, वैसे चैतन्य का स्वभाव भी वीतरागी है। इसप्रकार हे भव्य! अपनी चेतना के द्वारा राग और ज्ञान का भेदज्ञान कर। जो शुभाशुभराग होता है, वह मैं नहीं; मैं ज्ञायकस्वभाव को जाननेवाला हूँ; अनंत गुण-पर्यायरूप परिणमन करनेवाला ज्ञायकस्वभाव आत्मा मैं स्वयं ही हूँ—ऐसी दृष्टि करके आत्मा स्वयं रागादि से भिन्न होता है। पररूप होनेवाला या रागरूप होनेवाला आत्मा नहीं है, इसलिये भेदज्ञान के द्वारा आत्मा भिन्न हो सकता है।

जिसप्रकार आत्मा रस से भिन्न, उसीप्रकार काला-राता-सफेद आदि पुद्गल के रंगों से भी आत्मा भिन्न है। आत्मा काला-राता-सफेदरूप नहीं है, आत्मा तो अरूपी है, वह पुद्गल के रूप को उत्पन्न नहीं करता, वह स्वयं उसरूप नहीं होता, उससे भिन्न ही रहता है। भिन्न रहकर उसका जाननेवाला है। आत्मा यदि शरीर के रूपमय हो जाये तो उससे वह भिन्न ही न रह सके—चेतनमय आत्मा का अस्तित्व न रहे। रंग-रूप तो पुद्गल का स्वभाव है, आत्मा उसरूप नहीं होता; आत्मा अरूपी चेतनास्वरूप से पूर्ण है।

पुद्गल की गंध भी आत्मा में नहीं है। आत्मा अपने अनंत गुण की सुगंध से परिपूर्ण है, चैतन्य की सुगंध उसके अनंतगुणों में फैल रही है। चैतन्य की सुगंध चैतन्य में ही प्रसरती है, चैतन्य की सुगंध जड़ में नहीं फैलती। चैतन्य-सुगंध अतीन्द्रियज्ञान से ही स्वाद में आती है परंतु नाक वगैरह इंद्रिय के द्वारा उसका स्वाद नहीं आता क्योंकि पुद्गल की गंध उसमें नहीं है। चैतन्य और जड़ दोनों तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं, कोई किसी का स्वामी नहीं है। चैतन्य का स्वाद चैतन्य में, जड़ का स्वाद जड़ में है, कोई एक-दूसरे में मिलते नहीं।—ऐसे भिन्न आत्मा को हे भव्य! तुम अपने ज्ञान से जानो!—ऐसा भगवान कुन्दकुन्दस्वामी का उपदेश है।

आत्मा चैतन्यभाव से भरपूर्ण है, उसे पुरुषार्थ द्वारा तुम जानो। जड़ के अनंतगुण जड़ में परिणमते हैं, आत्मा के अनंतगुण आत्मा में परिणमते हैं, इसप्रकार दोनों का स्वतंत्र परिणमन होता है। पुद्गल के वर्णादि भाव हैं, सो मेरा स्वरूप नहीं है, और अंतर में जो रागादि विभाव होते हैं, वे भी मेरे चैतन्य का स्वभाव नहीं है, मैं उनका कर्ता नहीं, मैं उनका जाननेवाला (स्वसंवेदन पूर्वक उनका भी जाननेवाला) हूँ—पुरुषार्थ के द्वारा ऐसा भेदज्ञान करो। भेदज्ञान करके, ज्ञायकस्वभाव की प्रतीत करके, उसमें लीन होने से रागादि विभाव भी मिट जाते हैं और आत्मा में वीतरागदशा प्रगट होती है। ऐसे आत्मा को जाननेवाले धर्मी को, सिद्ध भगवान के समान अपने चैतन्यस्वभाव का अंश स्वानुभव में आता है, चैतन्यरस से भरपूर 'आनंदघट' की स्वानुभूति होती है। अहो! आत्मा आनंदरस से भरा हुआ कलश है, आनंदघट अनंत रस से भरा हुआ है; अनंत गुणों के रस से पूर्ण आनंदघट आत्मा है। असंख्य प्रदेशी चैतन्यघट, क्षेत्र से उसके असंख्य प्रदेश की मर्यादा है किंतु उसके आनंदरस की मर्यादा नहीं है, अनंत आनंदरस असंख्यप्रदेश में भरा है। चैतन्य में आनंदरस अनंत है, और ऐसे अनंत गुण हैं; ज्ञानगुण अनंत हैं, उनकी महिमा अपार है, उनकी शक्ति का कोई पार नहीं; इसप्रकार अनंत चैतन्यशक्ति के रस से भरपूर आनंदघट आत्मा को हे भव्य! तुम स्वसंवेदन से जानो! इंद्रियों से पार अंतर्मुखज्ञान के द्वारा आत्मा पहचाना जाता है।

आत्मा इंद्रियों से पार, राग से पार ऐसा अव्यक्त है। चैतन्य स्वयं अपने चैतन्य से ही व्यक्त होता है—अर्थात् वेदन में आता है, किंतु वह राग से या इंद्रियों के वेदन में नहीं आता। अतीन्द्रिय ज्ञानरूप अपने चैतन्यभाव से ही आत्मा का ग्रहण (अनुभव) होता है। आत्मा चैतन्य से भरपूर्ण है, इंद्रियादि उसमें नहीं है। इंद्रिय-रागादि न होने पर भी आत्मा सर्वथा शून्य नहीं है, किंतु अपने अनंत चैतन्यरस से भरपूर है। ऐसा आत्मा अपनी अखंड दृष्टि से जाना जाता है। आत्मा को पहिचानने का ऐसा मार्ग अनादिकाल से जीव ने नहीं जाना था, अब देव-गुरु के निमित्त से उसकी पहचान हुई। चैतन्यचिह्न के द्वारा आत्मा को पहचानने से भव का अभाव हो जाता है। आत्मा मन-वाणी-देह रहित विराजमान है, इंद्रिय द्वारा या राग द्वारा वह दिखाई नहीं देता, स्वयं अपने चैतन्यचिह्न से ही वह दिखता है, क्योंकि वह स्वसंवेद्य है।

आत्मा को जानने की सच्ची जिज्ञासा जिसको जागृत हुई, वह आत्मा को जान सकता

है। ज्ञान से ही आत्मा जाना जाता है, भेदज्ञान की तीक्ष्णता के द्वारा आत्मा जानने में आता है। जिसने आत्मा को पहचाना, वह जीव गृहस्थाश्रम में हो तो भी आत्मा की स्वानुभूति करता है; उसे आत्मा का स्वानुभव स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष है, और वह ज्ञान-आनंद से भरपूर है। जैसे हंस अपनी चोंच के बल से दूध व पानी को अलग-अलग कर देता है, वैसे धर्मी-हंस भेदज्ञान की तीक्ष्ण चोंच के द्वारा इंद्रियाँ-राग खंड-खंडरूप भावेन्द्रिय—सबसे अपने चैतन्यतत्त्व को अलग करके अखंड चैतन्यस्वरूप का स्वसंवेदन करता है।

चैतन्यस्वभाव ऐसा है कि इंद्रियों से व्यक्त नहीं होता; इंद्रियों से भिन्न चैतन्यस्वभाव है। राग से, इंद्रियों से या परसन्मुखी ज्ञान से वह व्यक्त नहीं होता; चैतन्य, चैतन्य से व्यक्त होता है। वह अपने अतीन्द्रिय चैतन्य भाव से व्यक्त है परंतु पर से अव्यक्त है। अंतर्मुख ज्ञान द्वारा प्रतीत करने पर वह अपनी पर्याय में व्यक्त होता है। जो अखंड चेतनस्वरूप है, वह अपनी स्वभाव परिणति द्वारा पर के अवलंबन बिना ही ग्रहण करने में, जानने में, अनुभव में आता है; बीच में खंड आवे तो भी स्वभाव का ग्रहण तो अंतर में अपने चैतन्यस्वभाव की अखंड परिणति द्वारा ही होता है, उसमें अन्य किसी का अवलंबन नहीं, खंड-भेद नहीं। पर्याय द्वारा ग्रहण होता है, किंतु द्रव्य-पर्याय के भेद के ऊपर दृष्टि नहीं रहती, दृष्टि तो अखंड वस्तु के ऊपर ही रहती है; अखंड की दृष्टि द्वारा उसका ग्रहण होता है, खंड के आलंबन द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता।

अंतर में चैतन्यस्वभाव अनंत गुण महिमा से भरपूर्ण है, वह स्वसंवेदन में धर्मी को व्यक्त है। इंद्रियज्ञान से वह अनुभवगोचर नहीं होता। शब्दों से पार चैतन्यता आत्मा में भरी है। शब्द की उत्पत्ति आत्मा में से नहीं होती, शब्द तो पुद्गल की पर्याय है, उनके द्वारा आत्मा नहीं जाना जाता। जब अंतर्मुख होकर अपने ज्ञान से आत्मा को जाना, तब निमित्त से ऐसा कहने में आता है कि देव-गुरु के उपदेश से आत्मा को जाना। अनादिकाल से नहीं जाना हुआ मुक्ति का मार्ग, वह अपने स्वसंवेदन ज्ञान से ही जान सकता है, वहाँ गुरु का उपदेश निमित्तरूप होता है। अनादिकाल में आत्मा जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, तब सच्चे देव-गुरु निमित्तरूप होते हैं, परंतु ज्ञान का ग्रहण तो ज्ञान से ही होता है, उपदेश के शब्दों द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता; अणुव्रत-महाव्रत के शुभपरिणामों से भी आत्मस्वभाव का ज्ञान नहीं होता। व्रतादि शुभपरिणाम तो ज्ञान से भिन्न रह जाते हैं; उस राग का स्वरूप दूसरा है, और आत्मा का स्वरूप दूसरा है।

शुभराग तो पुण्यबन्ध का कारण है, उससे कहीं भव का अभाव नहीं होता है; भव का अभाव तो शुद्धस्वरूप के जानने से होता है। ऐसे शुद्धस्वरूप का कोई ऐसा चिह्न बाह्य में नहीं है कि जो इंद्रियों से जाना जाये। चेतना ही उसका चिह्न है, और अतीन्द्रियज्ञान से ही वह जाना जाता है। रागादि द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने में नहीं आता, उससे अगोचर आत्मा है; वह आत्मा, आत्मा के द्वारा ही वास्तविकरूप में जाना जाता है। मन-वचन-काया के पार आत्मा अपने द्वारा ही अपने को जानता है। ऐसे आत्मा को अंतर की चेतना के द्वारा हे भव्य जीवो! तुम जानो!

❀ ❀ ❀

जो वर्ण-गंध-रस-स्पर्श दिखाई देते हैं, वे पुद्गल में दिखते हैं; आत्मा में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श नहीं दिखते; आत्मा वर्ण-गंध-रस-स्पर्श से रहित अरूपी है। ज्ञानस्वरूप आत्मा अरूपी होने पर भी सम्यग्ज्ञानचक्षु के द्वारा देखने में आता है। सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वरूप-अरूपी आत्मा को देखते हैं-जानते हैं-अनुभव करते हैं; और वह सम्यग्दृष्टि दूसरे सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञान के द्वारा पहचान लेते हैं। लेकिन मिथ्यादृष्टि को देहात्मबुद्धि होने से वह अन्य ज्ञानी को भी देहबुद्धि से देखता है, अतः अन्य ज्ञानी को भी वह नहीं पहचान सकता। सम्यग्दृष्टि को देहात्मबुद्धि नहीं है, उसे तो चैतन्य में ही आत्मबुद्धि है; उसके श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में देह से भिन्न आत्मा स्पष्ट वर्तता है। वे आत्मा को चेतनरूप अनुभव करते हैं।

असंख्य प्रदेशी चैतन्य-आकार आत्मा है, वह चेतना लक्षण से लक्षित है; वचन से अगोचर है परंतु वह स्वसंवेदन में गोचर है। चेतना स्वभाव की और उसमें वर्ण-गंध की नास्ति—ऐसा भेदज्ञान कराकर आत्मा का सच्चा स्वरूप दिखलाया है; यह जानकर, पर से निरपेक्ष होकर, स्वोन्मुख चेतनलक्षण के द्वारा अपने चैतन्यस्वरूप का स्वसंवेदन करना, चेतना से आत्मा को अनुभवगम्य करना—यह उपदेश है। भाई! तू आत्मा की रुचि जागृत कर तो तुझे अवश्य स्वानुभव होगा। जड़ के रस का वेदन आत्मा में है ही नहीं। अज्ञानी रागादि का वेदन करते हैं, ज्ञानी अपने सच्चे चैतन्यस्वरूप का वेदन करते हैं। ऐसे ज्ञानस्वरूप जीव की भावना करो और उसका अनुभव करो—ऐसा उपदेश है। ज्ञानरूप होकर ज्ञानस्वभाव की भावना कर,—ऐसी भावना से तुझे मोक्षसुख प्राप्त होगा।

ज्ञानस्वभाव एक प्रकार है; उसकी सम्यक् अवस्था के मति-श्रुत आदि पाँच प्रकार हैं; उन पाँचों प्रकारों में एक ज्ञानस्वभाव की ही तुम भावना करो। ज्ञानस्वभाव को अन्य किसी की अपेक्षा नहीं, ऐसे निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव में दृष्टि रखकर उसकी भावना से सम्यक् मति-श्रुत व केवलज्ञान प्रगट होता है। ज्ञायकभाव चैतन्य से भरपूर्ण है, अनंत गुण-पर्यायों से भरपूर्ण है, उसमें तन्मय परिणति करके, शरीरादि से एवं विभावों से पृथक् होकर, ज्ञानपद एक की ही भावना से केवलज्ञान व मुक्ति होती है।

ज्ञानस्वभाव की भावना वास्तव में मोक्ष की ही दाता है; वह स्वर्ग को देनेवाली नहीं; किंतु साधक को अपूर्णदशा के-मध्य में जो राग रह जाता है, उसके फल में स्वर्गादि प्राप्त होता है; ज्ञानस्वरूप की वीतरागी भावना स्वर्ग देनेवाली नहीं किंतु मोक्ष देनेवाली है।

चैतन्यपद में अनंत-अनंत आनंद का निधान भरा हुआ है, अनंत काल तक आनंद का अनुभव करने पर भी वह कभी खाली नहीं हो जाता; ऐसा अद्भुत चैतन्यस्वरूप मैं हूँ—ऐसा धर्मी अनुभव करता है। ऐसे चैतन्यस्वरूप मैं हूँ और अन्यरूप मैं नहीं हूँ—ऐसा स्व-पर का भेदज्ञान तो साधकदशा के प्रारंभ से ही हो गया है; इसके बाद उसी चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता करते-करते क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान होता है, तब समस्त लोकालोक के पदार्थों को, उनके अनंत गुण-पर्यायों को, अनंत अविभाग प्रतिच्छेद को, इत्यादि सबको प्रत्यक्ष जानता है, ऐसी उसकी अद्भुत शक्ति हे। ऐसा अद्भुत केवलज्ञान चैतन्यस्वरूप की भावना से ही होता है। अत: हे जीव! तुम एक ज्ञायकभाव की ही भावना करो। वस्तु के अंतर में पहुँचकर, उसके सच्चे स्वरूप को ग्रहण करो, अपूर्णता में मत रोको।

अहा, ऐसे चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति करना ही शास्त्र के पढ़ने-सुनने का तात्पर्य है। भावशुद्धिरहित कितने भी शास्त्रों के पढ़ने-सुनने से क्या फल है? अरे, चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति जिसमें न हुई, सम्यक्त्वादि भाव जिसमें प्रगट न हुआ, ऐसा पढ़ना-सुनना जीव को कौन सा कार्यकारी हुआ? जिससे भव का अभाव न हो—उससे क्या प्रयोजन है? यदि स्वरूप की प्राप्ति हुई तो पढ़ने-सुनने का यथार्थ फल आया है; किंतु यदि स्वरूप की प्राप्ति न हुई, जो करने का था, वह तो न हुआ, तो शास्त्र का पढ़ना-श्रवण करना जीव को क्या कार्यकारी हुआ?—कुछ भी नहीं; मात्र पुण्यबंध हुआ, किंतु स्वरूप की तो प्राप्ति न हुई, भव का अभाव न हुआ,

सम्यग्दर्शन न हुआ—तो जीव को कौन सा फल मिला ? भावशुद्धि के रहित सब निष्फल हैं। श्रावकधर्म या मुनिधर्म का कारण तो 'भाव' ही है, अर्थात् सम्यक्त्वादिरूप भावशुद्धि से ही श्रावकदशा या मुनिदशा होती है। जिसने स्वरूप की प्राप्ति की, उसको ही पढ़ना-श्रवण करना सफल हुआ। सम्यग्दर्शनपूर्वक भेदज्ञान की सहज धारा बढ़ते-बढ़ते, भावशुद्धि होते-होते बीच में अकर्तापन से शुभपरिणाम होते हैं। स्वरूप की दशा के अनुसार व्रतादि शुभपरिणाम होते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। धर्मी जीव स्वानुभूति के बल से सहज ज्ञानधारा की वृद्धि करते हुए, राग को सर्वथा त्यागकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। अहो, ऐसे स्वरूप को साधनेवाले मुनियों की दशा अलौकिक होती है; निजस्वरूप की शुद्धि की वृद्धि करना ही उनका प्रयोजन है। बारम्बार स्वरूप में लीन हो जाते हैं, उन्हें स्वरूप की दशा ही मुख्य होती है। खाना-पीना, निद्रा लेना, शीत या उष्णता आदि के प्रति उनके परिणाम अत्यंत अल्प जाते हैं, एक निजस्वरूप का वेदन ही मुख्य होता है—ऐसे मुनिराज स्वरूप में लीन होकर, श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। अनंत मुनिवरों ने ऐसी स्वरूपदशा प्राप्त की है। देखो! बाहुबली मुनिराज! ध्यान में कैसे खड़े हैं ? बस, खड़े-खड़े आत्मध्यान में ही मग्न हैं, न आहार, न विहार; स्वरूप के ध्यान में ऐसे स्थिर हैं कि शरीर ऊपर बेल चढ़ गई, फिर भी ज्यों के त्यों खड़े हैं। वाह धन्य दशा! ऐसी मुनिदशा भावशुद्धि से ही होती है। ज्ञानस्वरूप की भावना के फल में ऐसी दशा प्राप्त होती है। इसप्रकार यदि शास्त्र का श्रवण-पठन आदि सब भावशुद्धि सहित हो तो सफल है। मोक्षमार्ग में भावशुद्धि की ही प्रधानता है; अतः हे जीव! तुम ज्ञानस्वरूप की भावना द्वारा प्रथम सम्यक्त्वादि भावशुद्धि प्रगट कर।

(गुजराती-आत्मधर्म, अंक-356, पृष्ठ 21 से 27 तक का हिन्दी अनुवाद)

आत्मा के हित का मार्ग संत बतलाते हैं

भाई, हित का मार्ग तेरे स्वभाव की जाति का है, वह राग की जाति का नहीं है।

आत्मा का मोक्षमार्ग अर्थात् सुख का मार्ग, अन्य के आश्रय से प्रगट नहीं होता; पर की ओर के जो भाव होते हैं, वे राग-द्वेषरूप भाव हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं, वह आत्मा की जाति का नहीं। मोक्षमार्ग तो आत्मा की जाति का होता है, वह आत्मस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है, वह राग के आश्रय से प्रगट नहीं होता और न शरीर के आश्रय से वह होता है।

आत्मा की चैतन्यजाति और रागादि परभाव की जाति—दोनों अत्यंत भिन्न हैं। चैतन्यजाति के आश्रय से राग प्रगट नहीं होता। और राग की जाति के आश्रय से चैतन्यजाति प्रगट नहीं होती। दोनों की जाति को पहिचाने, तभी चैतन्यस्वभाव के आश्रय से चैतन्यभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। वही मोक्षमार्ग है।

अहा, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है; उसके आश्रय से प्रगट हुआ ज्ञानभाव ही मोक्षमार्ग है। अंशी ऐसा जो ज्ञान-आनंदस्वभाव, उसके आश्रय से ही मोक्षमार्गरूप अंश प्रगट होता है। स्वभाव का अंश अंशी के आश्रय से ही प्रगट होता है, लेकिन वह विजातीय के आश्रय से प्रगट नहीं होता है। ज्ञान का अंश ज्ञान के आश्रय से ही प्रगट होता है, राग के आश्रय से नहीं। राग के सेवन द्वारा तो राग का ही कार्य प्रगट होता है लेकिन ज्ञान प्रगट नहीं होता। अंशी के साथ एकत्व करके प्रगट हुआ अंश, वही सच्चा अंश है। (पूर्णता के लक्ष से प्रारंभ, वही सच्चा प्रारंभ है) पूर्णता का लक्ष कहो या सम्यग्दर्शन कहो, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है। आत्मा संपूर्ण आनंदस्वभाव है, उसके अनुभव से ही आनंद प्रगट होता है। राग के आश्रय से कदापि आनंद का अनुभव प्रगट नहीं होता क्योंकि आनंद वह कहीं राग का अंश नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और श्रद्धा भी राग के आश्रय से नहीं होते, क्योंकि ज्ञानादि राग का अंश नहीं है। राग के आश्रय से राग ही प्रगट होता है, कहीं मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता है।

देखो, यह सत्यार्थ मोक्षमार्ग! सच्चा मोक्षमार्ग रागरहित होता है। आत्मा का ज्ञान और आनंद रागरहित है। ज्ञान और आनंद आत्मा के सुख गुण हैं 'चिदानंदाय नमः' आदि मंत्र आत्मा के स्वभाव को प्रगट करते हैं, जिसमें श्रद्धा-वीर्य आदि अनंत गुणों का समावेश है। जिस गुण से देखो, उस गुणस्वरूप संपूर्ण आत्मा दृष्टिगोचर होता है। आनंद की विशेषता से देखो तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसीप्रकार श्रद्धा आदि अनंत गुणस्वरूप आत्मा है, उसके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनंद प्रगट होता है। आत्मा के लक्ष से राग प्रगट नहीं होता, उसका तो अभाव हो गया है। राग आत्मगुण नहीं, इसलिये राग के आश्रय से आत्मा का गुण (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट नहीं होता। सर्व गुणों की निर्मल पर्याय आत्मा के ही आश्रय से परिणमित होती हैं, अपने ज्ञानादि-गुण-पर्यायों को धारण करनेवाली वस्तु आत्मा है। जिसमें जो गुण नहीं, उसके आश्रय से उस गुणरूप कार्य प्रगट नहीं होता। जिसमें जो गुण विद्यमान है, उसी के आश्रय से ही उसका कार्य प्रगट होता है। जिसमें ज्ञान हो, उसके आश्रय से केवलज्ञान होता है; जिसमें आनंद हो, उसके आश्रय से आनंद प्रगट होता है। जिसमें ज्ञान-आनंद न हो, उसके आश्रय से वह कैसे प्रगट होगा? इसलिये हे जीव! तू पर का आश्रय छोड़... और स्वद्रव्य के सन्मुख होकर उसका आश्रय कर... यह कार्य त्वरा से कर अर्थात् शीघ्र कर। तू आत्महित के इस कार्य में विलंब मत कर।

अरे जीव! तुझे अनंतकाल से दुःख का अनुभव है, वह कैसे छूटे? और अनाकुलतारूप सच्चा आत्मसुख किसप्रकार अनुभव में आये?—उसकी यह रीत वीतरागी संत तुझे बतलाते हैं, अपने हित के लिये तू लक्ष में ले, विचार में ले। बाह्य अन्य विचार तो बहुत करता है, यह तेरे हित की बात भी किंचित् विचार में ले। अन्य सांसारिक विचार करके दुःखी हो रहा है, लेकिन भाई! एक बार आत्मा के सुख को विचार में लो। जो दुःख है, वह चैतन्य की जाति का नहीं, परंतु उसके पीछे आनंद का समुद्र भरपूर है! उस समुद्र को देख, पर्याय में भी आनंद का तरंग उल्लसित होगा और दुःख नहीं रहेगा। आनंद की विकृति है, वह दुःख है। लकड़ी में दुःख नहीं, क्योंकि उसमें आनंदस्वभाव नहीं है। आनंदस्वभाव जहाँ नहीं होता, वहाँ उसकी विकृतिरूप दुःख भी नहीं होता। दुःख, वह तो विकृति क्षणिक कृत्रिम भाव है, उसी समय आनंदस्वभाव सहज-अकृत्रिम शाश्वत है। आनंदस्वभाव को भूलकर अज्ञान से दुःख

उत्पन्न किया है; आनंदस्वभाव को अनुभव में लेने पर दु:ख मिट जाता है। दु:ख संयोग से नहीं और स्वभाव में भी नहीं है, वह तो क्षणिक विकृति है;—किसकी विकृति ? आत्मा के अंतर में जो आनंदस्वभाव विद्यमान है, उसकी विकृति, वह दु:ख है। आनंदस्वभाव के द्वारा उस विकृतदशा को मिटाकर आनंददशा प्रगट होती है। अरे, दु:ख क्या है ?—इसका भी जीवों को ज्ञान नहीं है। दु:ख को वास्तव में पहिचाने तो पूर्ण आनंदस्वभाव सिद्ध हो जाता है; आनंदस्वभाव को जाने, तब दु:ख का स्वरूप विचार में आता है।

अब दु:ख की तरह कषाय का वर्णन करते हैं। कषाय, वह भी दु:ख है। अंतर में शांतरस से पूर्ण आत्मा अकषायस्वरूप है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अकषायभाव की उत्पत्ति होती है, वह मोक्षमार्ग है। उन अकषायभावों का आधार कहीं रागादि विकल्प नहीं हैं। राग-द्वेष स्वयं कषाय है, वह अकषायभाव का कारण नहीं होता; और शांत अकषायस्वभाव की सन्मुखता से कषाय की उत्पत्ति नहीं होती। कषाय क्षणिक विकृतभाव है, अकषायस्वभाव त्रिकाल है; उन दोनों को जाने तो अकषाय-चैतन्यस्वभाव का अनुभव करके कषाय का अभाव करे।—वह मोक्षमार्ग है। क्षणिक कषाय को कहीं त्रिकाली स्वभाव का आधार नहीं है, त्रिकालीस्वभाव में तो कषाय है ही नहीं; ऐसे स्वभाव को लक्ष में लेने पर कषायभाव छूट जाते हैं और कषायरहित चैतन्यशांति का वेदन होता है।

इसप्रकार श्रद्धास्वामी आत्मा है, उसकी सन्मुखता से सम्यग्दर्शन होता है। मिथ्यात्व तो एक क्षण जितनी विकृति है, उसे कहीं स्वभाव का आधार नहीं। जो श्रद्धास्वभाव त्रिकाल है, उसका स्वीकार करने पर मिथ्यात्व नहीं रहता। सम्यक्त्व प्रगट करने के लिये ऐसे आत्मस्वभाव का ही आधार है, रागादि विकल्पों के आधार से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

इसप्रकार सम्यक्पुरुषार्थरूप वीर्य, वह आत्मा का स्वभाव है; उसके आश्रय से रत्नत्रय के पुरुषार्थरूप वीर्यबल प्रगट होता है। विकल्प में ऐसी शक्ति नहीं कि रत्नत्रय को प्रगट करे। बलवन्त वीर्यवान आत्मा है कि जो स्वबल द्वारा रत्नत्रय प्रगट करता है। बल नाम की एक औषधि आती है। उसीप्रकार आत्मा में वीर्यबलरूप ऐसी औषधि है कि जो सर्व कषाय रोग का नाश करके अविकारी रत्नत्रय और केवलज्ञानादि-चतुष्टय का अनंत बल प्रदान करती है। राग में ऐसा सामर्थ्य नहीं कि रत्नत्रय दे। अनंत गुणरूप जो आत्मस्वभाव है, उसके ही आश्रय से

मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट करता है। ऐसा सच्चा मोक्षमार्ग विचारकर उसका स्वरूप निश्चित करना चाहिए।

निश्चय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप ही एक मोक्षमार्ग है, दो मोक्षमार्ग नहीं 'तीन काल में भी परमारथ का मार्ग एक ही होता है।' एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग—इसप्रकार दो मोक्षमार्ग मानना, वह मिथ्या है—ऐसा पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है। निश्चय मोक्षमार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी को मोक्षमार्ग कहना, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं लेकिन मात्र उपचार है—ऐसा बतलाया है। शुद्ध आत्मतत्त्व को जानकर, श्रद्धा करके, उसके अनुभव द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है, दूसरा मार्ग नहीं... नहीं...।

प्रवचनसार में कहते हैं कि—अतीत काल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर-भगवंत इस एक ही प्रकार से कर्मांशों का क्षय स्वयं अनुभव किया, क्योंकि अन्य प्रकार का अभाव होने से उसमें दैत संभव नहीं। इसप्रकार शुद्धात्मा के अनुभव द्वारा स्वयं कर्मों का क्षय करके वे समस्त तीर्थंकर भगवंत परम आप्तपने के द्वारा तीन काल के मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार का उपदेश दिया है और फिर वे मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। इसलिये निर्वाण का दूसरा मार्ग नहीं, ऐसा निश्चित होता है। इसप्रकार एक ही प्रकार से सम्यक्मार्ग का निर्णय करके आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ऐसे मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाले भगवंतों को नमस्कार हो!

अर्हंत सौ कर्मोतणो करी नाश अे ज विधि वडे।
उपदेश पण अेम ज करी, निर्वृत्त थया, नमुं तेमने॥

श्रमणो-जिनो-तीर्थंकरो अे रीते सेवी मार्गने।
सिद्धि वर्या, नमुं तेमने; निर्वाणना ते मार्गने॥

शुद्ध आत्मअनुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रय के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इन तीनों के स्वरूप एक मोक्षमार्ग है, लेकिन अलग-अलग तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ सम्यग्ज्ञान साथ में होता ही है और वहाँ अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप चारित्र का अंश भी होता है। इसप्रकार शुद्ध रत्नत्रयरूप एक ही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय की शुद्ध में तारतम्यरूप कदापि अनेक प्रकार हो, परंतु उसमें जाति एक ही है; जितनी रत्नत्रय की शुद्धता है, उतना ही मोक्षमार्ग है, अन्य मोक्षमार्ग नहीं।

प्रश्न—कई स्थानों पर निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार का मोक्षमार्ग कहा है और आप तो एक ही मोक्षमार्ग कहते हो, तो उसमें विरोध नहीं ?

उत्तर—नहीं; सच्चा मोक्षमार्ग एक ही है, और दूसरा कोई वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं।—इसप्रकार निर्णय करके सच्चे मोक्षमार्ग को ही मोक्षमार्गरूप ग्रहण करना, वह अविरुद्धपना है। लेकिन निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग दोनों मार्ग हैं—इसप्रकार दोनों को सच्चा मानकर ग्रहण करने पर विरोध आता है। एक निश्चयमोक्षमार्ग, वह सच्चा मार्ग है और दूसरा मार्ग कहना, वह तो मात्र उपचार है, वह सच्चा मार्ग नहीं—ऐसी पहिचान करने पर ही सच्चे मोक्षमार्ग का ज्ञान होता है, और उसमें ही दोनों नयों का सच्चा अर्थ माना गया है।

आत्मा के शुद्धस्वभाव की अनुभूतिस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जो शुद्ध वीतराग परिणाम है, वह सच्चा मोक्षमार्ग है; इसलिये निश्चय से वास्तव में वह मोक्षमार्ग है; और जहाँ जो सच्चा मोक्षमार्ग तो नहीं परंतु मोक्षमार्ग के साथ निमित्तरूप वर्तता है, उसे भी मोक्षमार्ग कहना, वह व्यवहार है। 'कारण सो व्यवहारो'—व्यवहार को निश्चय मोक्षमार्ग का कारण कहना, वह भी उपचार है; इसलिये निमित्तरूप है—ऐसा समझना। जिसप्रकार उपादान रहित निमित्त, वह वास्तव में निमित्त नहीं है; उसीप्रकार निश्चय की अपेक्षा रहित व्यवहार, वह वास्तव में व्यवहार नहीं है। निश्चयरहित अकेला व्यवहार होता नहीं, इसलिये प्रथम व्यवहार हो और उससे निश्चय प्राप्त हो—यह बात सच्ची नहीं। 'दोनों साथ हैं'—इसलिये निश्चय और व्यवहार दोनों साथ हैं तो भी सत्य मोक्षमार्ग तो एक ही है—दो नहीं हैं।

सच्चे मोक्षमार्ग का निर्णय करने के लिये यह बात विशेष प्रयोजनभूत होने से बारंबार निर्णय करने की आवश्यकता है। साधक को एक पर्याय में निश्चय-व्यवहार दोनों साथ वर्तते हैं, उसमें निश्चयरत्नत्रय सत्यार्थ मोक्षमार्ग है, और उसके अनुकूलरूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के जो शुभविकल्प वर्तते हैं, उसमें मोक्षमार्ग का व्यवहार करना, वह उपचार है, वह सत्यार्थ नहीं है। एक ही सत्य मोक्षमार्ग है, और दूसरा सत्य नहीं लेकिन उपचार है—इसप्रकार मोक्षमार्ग का स्वरूप विचारना। निश्चय और व्यवहार दोनों मिलकर एक मोक्षमार्ग है—ऐसा नहीं। निश्चय एक ही मोक्षमार्ग है।

❀ शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, वह एक ही सम्यग्दर्शन है;

❀ शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह एक ही सम्यग्ज्ञान है;

❀ शुद्ध आत्मा में लीनता, वह एक ही सम्यक्चारित्र है;

❀ शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एक ही मोक्षमार्ग है;

❀ व्यवहार के विकल्पों का उसमें अभाव है।

निश्चय की भूमिका में उसे योग्य ही व्यवहार होता है, उसका स्वीकार है लेकिन उसे सत्य मोक्षमार्ग के रूप में ज्ञानी स्वीकार नहीं करते हैं।

प्रश्न—जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं, तो उसे उपचार से मोक्षमार्ग क्यों कहा?

उत्तर—क्योंकि निश्चय के साथ भूमिका में वैसा ही व्यवहार निमित्तरूप होता है, विपरीता होता नहीं—इसप्रकार उस भूमिका का ज्ञान करने के लिये उसमें मोक्षमार्ग का उपचार है। जिसप्रकार बिल्ली में सिंह का उपचार करना, वह यह सूचित करता है कि बिल्ली स्वयं वास्तव में सिंह नहीं, वास्तविक सिंह दूसरा है; उसीप्रकार व्यवहार में मोक्षमार्ग का उपचार, वह यह सूचित करता है कि व्यवहार स्वयं मोक्षमार्ग नहीं, सच्चा मोक्षमार्ग इससे भिन्न है, 'ज्ञान वह आत्मा' इसलिये गुण-गुणीभेद के विकल्परूप व्यवहार भी मोक्ष का साधन हो नहीं सकता है, वहाँ अन्य स्थूल राग की क्या बात?

❀ मोक्षमार्ग दो नहीं, एक ही है; उसमें —

❀ मोक्षमार्ग में जो सम्यग्दर्शन है, वह दो नहीं, एक ही है;

❀ मोक्षमार्ग में जो सम्यग्ज्ञान है, वह दो नहीं, एक ही है;

❀ मोक्षमार्ग में जो सम्यक्चारित्र है, वह दो नहीं, एक ही है;

एकरूप आत्मस्वरूप की अनुभूति में ऐसे मोक्षमार्ग का समावेश हैं। इसलिये अभेदनय से अनुभूतिस्वरूप जो आत्मा है, वह स्वयं ही मोक्षमार्ग है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का उसमें अवलंबन नहीं है। भाई, तेरे हित का मार्ग तेरे स्वभाव की जाति का है, वह तेरे आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है।—संत तेरे हित का ऐसा मार्ग तुझे बतलाते हैं। उसे पहिचानकर स्वाश्रय से अपना हित साध।

[गुजराती-आत्मधर्म अंक 356, पृष्ठ 1 से 6 तक का अनुवाद]

वाह! संतों ने मेरी वस्तु मुझे दी

'सर्व संसारी जीव शुद्धनय से सिद्धपरमात्मा समान हैं।'—अहा! ऐसा कहकर संतों ने आत्मा का परमस्वभाव बतलाया है। ऐसे परमस्वभाव का स्वीकार करनेवाले जीवों को पर्याय में भी सिद्धदशा के साधनरूप सम्यक्तवादि भाव विद्यमान हैं।—यही वीर प्रभु का मार्ग है और यही परमागम का सार है।

केवलज्ञानादि शुद्धकार्य जिनहें प्रगट हुए हैं, ऐसे सिद्धपरमात्मा के समान ही यह आत्मा है। ऐसे आत्मा की ओर जहाँ पर्याय झुकी, जहाँ स्वीकार हुआ, वहाँ 'यह शुद्ध कारण और यह शुद्ध कार्य' ऐसा कारण-कार्य का भेद भी नहीं रहता। आत्मा को शुद्धरूप अनुभूति में लिया, वहाँ कृतकृत्यता हो जाती है। सिद्धभगवंतों को जैसा शुद्धकार्य हुआ है, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। ऐसा स्वभाव ज्ञान जिसके स्थित हुआ, उसका ज्ञान परभावों से पृथक् होकर सिद्धपरमात्मा समान हो गया है। ऐसे शुद्धस्वभाव का विश्वास करनेवाली पर्याय उनके समान होकर उसमें अभेद हो गई है। शुद्धकार्य द्वारा शुद्धकारण का स्वीकार हुआ, वहाँ कारण-कार्य का भेद नहीं रहता। कार्य स्वयं कारण स्वभावसन्मुख अभेद होकर ऐसा अनुभव करता है कि 'यह मैं हूँ।' यह कारण है और यह कार्य है—ऐसे भेद वहाँ नहीं रहते।

अहा! इस श्रद्धा की शक्ति अपार है! राग से इसका पार नहीं पाया जा सकता है। कार्य शुद्ध हुआ, तब कारण की प्रतीत हुई कि अहो! ऐसा मेरा स्वभाव है। अशुद्धता या भव वह में नहीं हूँ, जैसा शुद्धकार्य प्रगट हुआ है, वैसा शुद्ध मेरा स्वभाव है। अहा! ऐसा चैतन्यभाव एकबार अंतरज्ञान में स्पर्श हो जाये, उसे भव भ्रमण नहीं रहते। अरे, अंतर में मग्न होकर अपने भगवान को देख! अंतर में स्वयं भगवान ही बैठे हैं... दृष्टि में ले इतनी देर है। सिद्ध भगवान के गुणों में और मेरे में कुछ अंतर नहीं है।

प्रश्न—प्रभु! हम तो संसारी हैं, तथापि आप हमें सिद्ध जैसा क्यों कहते हो?

उत्तर—भाई! पर्याय में संसारीपना है—इसकी तो हमें खबर है लेकिन यह बात एक ओर रख... सिद्धसमान स्वभाव जब हम बतलाते हैं, तब उसे तू लक्ष में ले; उसे लक्ष में लेने पर संसारीपना छूट जाता है, और परिणति का प्रवाह संसार की ओर से हटकर सिद्धपद की ओर सन्मुख होता है। अरे, ऐसे सिद्धस्वभाव के मंगलिक अवसर पर संसार का कौन स्मरण करे? प्रभु! आप सिद्ध हैं, मैं भी आपके जैसे गुणों से भरपूर्ण सिद्ध हूँ—इसप्रकार स्वसंवेदन से आत्मा को अनुभव में लेकर हे जीव! इस अपूर्व बात को अपने स्वानुभव से प्रमाण कर। जिसका अनुभव करते ही सिद्धसमान आनंद तुम्हें अभी अनुभव में आ जायेगा। जो अनुभव हुआ है, जो आनंद है, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, वह परिणाम रागरहित अबंध है, इसलिये उस परिणामरूप परिणमित ज्ञानी धर्मात्मा अबंध है, मुक्त है। अहो! वस्तु के अचिंत्य महिमा को ग्रहण करनेवाले सम्यग्दर्शन के महिमा की क्या बात! वह सम्यग्दर्शन भी अनंतगुण के महा आनंद से भरपूर्ण है। सम्यग्दर्शन में आनंद का वेदन हुआ, वहाँ प्रतीत हुई कि अहो! ऐसे आनंदस्वरूप तो मैं सदैव हूँ। प्रथम भी मैं ऐसा ही था, अब उसकी मुझे खबर हुई है अर्थात् मेरी वस्तु का महा आनंद हमें साक्षात् अनुभव में आया है। इसप्रकार शुद्धात्मा की दृष्टि से धर्मी जीव अपने को सिद्ध समान अनुभव करते हैं। अब उसे जन्म-मरण नहीं। शांतरसरूप यह आत्मा स्वयं हो गया है, उसमें अब अशांति कैसी और संसार कैसा? सर्वज्ञ परमात्मा के पास से ऐसी सुंदर मीठी-मधुर चैतन्य वस्तु वीतरागी संत तेरे लिये लाये हैं... भाई ग्रहण कर! तू ऐसी आनंददायक अपनी वस्तु को देख तो सही, तुझे आनंद प्राप्त होगा... प्रसन्नता होगी... कि—'वाह! मेरी वस्तु संतों ने हमें दी।'

❀ शुद्ध कारण-कार्य अभेद होने पर, सिद्ध में और मुझमें कोई अंतर नहीं है ❀

अंतर्मुख होकर परिणति जहाँ चिदानंदस्वभाव में अभेद होकर शुद्धता का वेदन करती है, वहाँ कार्य-कारण का भेद न करूँ तो मेरे में और सिद्धपरमात्मा में कोई भी अंतर नहीं है। सिद्धभगवान को जैसा कार्य है, वैसा कारण मेरे में भी विद्यमान है; वह कारणस्वभाव दृष्टि में आया, वहाँ उसके आश्रय से कार्य भी वर्तता है। अहो! ऐसे स्वभाव को पकड़नेवाली दृष्टि की बलिहारी है! परमात्मा उसके हाथ में आ गया है। अब कार्य अपूर्ण है, यह बात अभेददृष्टि में नहीं रहती है।

सिद्धभगवान को जिसप्रकार अशरीरीपना है, उसीप्रकार साधक धर्मी की भी जो परिणति अंतर्मुख लीन हुई है, उसमें भी अशरीरीपना हुआ है। स्वभाव की ओर सन्मुख शुद्ध भाव को शरीर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं रहता है, इसलिये जैसे सिद्ध अशरीरी हैं, उसीप्रकार मैं भी अशरीर हूँ—ऐसा धर्मी अपने को अनुभव करता है। इसलिये उस सम्यग्दृष्टि के कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। अहा, कारणतत्त्व की शुद्धता जिसने जान ली, उसे कार्य में भी शुद्धता वर्तती है; उसे शुद्ध कारण-कार्य अभेद हुए हैं, उसमें और सिद्ध में कोई अंतर नहीं है। जिसप्रकार सिद्धभगवान की परिणति शरीरातीत-इंद्रियातीत-आनंदरूप हुई है; उसीप्रकार साधक की जो शुद्धपरिणति है, वह भी शरीरातीत-इंद्रियातीत-आनंदरूप है। पर्याय में किंचित् विकार या अपूर्णता हो लेकिन-धर्मी की दृष्टि उस पर नहीं है, धर्मी की दृष्टि तो अंतर के कारणपरमात्मा में मग्न हुई है, अतः वह सिद्ध में और अपने में कोई अंतर नहीं देखता। अहा, ऐसे स्वभाव की दृष्टि का कोई अचिंत्य सामर्थ्य है! अनंतगुण की शुद्धता सहित अखंड कारणपरमात्मा को जिसने अपने में ग्रहण किया है... उस सम्यग्दर्शन की क्या बात? उसमें अतीन्द्रियपना, अशरीरीपना आदि जितने सिद्धप्रभु के विशेषण हैं, वे सब उसे लागू होते हैं। अहा, ऐसे अपने आत्मा को लक्ष में लेकर अनुभव में लेकर, मैं सिद्धपद की साधना कर रहा हूँ। अरे जीव! आत्मा सत् है, उसे लक्ष में लो। यह तीर्थंकर के उपदेश का सार है। ऐसे आत्मा को जिसने अंतर में श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार किया है, उसने तीर्थंकरों के उपदेश का सार ग्रहण कर लिया है... अब वह अल्पकाल में देह का त्याग करके साक्षात् अशरीरी होकर वह सादि-अनंत सिद्धपद में विराजमान रहेगा।

❀ सम्यग्दृटि को कारण-कार्य दोनों की शुद्धता है ❀

सम्यग्दृष्टि के कारण-कार्य दोनों शुद्ध हैं और सम्यग्दृष्टि जानता है कि दूसरों जीवों में कारणतत्त्व सदैव शुद्ध है। परिणति की अशुद्धता द्रव्य-गुण में प्रवेश नहीं होती, इसलिये द्रव्य-गुण अशुद्ध हो नहीं जाते।

अज्ञानी के आत्मा में कारणतत्त्व सदैव शुद्ध है, परंतु उसे अपने शुद्ध कारणस्वभाव की प्रतीत नहीं है। यदि कारणतत्त्व की शुद्धता को जाने तो उसका कार्य भी शुद्ध हो।

पर्याय की अशुद्धता को ही देखनेवाले अज्ञानी को पर्याय के पीछे रहता हुआ शुद्ध तत्त्व

दिखलायी नहीं देता है, इसलिये उसके कारण-कार्य दोनों अशुद्ध हैं। ज्ञानी ने जहाँ शुद्ध कारणतत्त्व को जाना, वहाँ पर्याय भी उसके आश्रय शुद्ध होकर परिणमित हुई है, इसलिये ज्ञानी के कारण-कार्य दोनों शुद्ध हैं। तथापि जो अल्प रागादि अशुद्धता होती है, वह शुद्धता से बाह्य है-भिन्न है, वह ज्ञानी का कार्य नहीं है, और ज्ञानी का शुद्धभाव, वह अशुद्धता का कारण नहीं होता। अहा, ऐसे कारण-कार्य को सम्यग्दृष्टि जीव परमागम के अनुपम रहस्य द्वारा जानते हैं। अहा, एकत्वस्वरूप शुद्ध आत्मा समस्त जीवों में शोभायमान है। ऐसे शुद्धतत्त्व को देखनेवाली दृष्टि ही द्रव्यदृष्टि है, और ऐसी दृष्टिवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि अपने शुद्धतत्त्व को जानता है; शुद्ध पर्याय हुई, उसे भी जानता है और कुछ अशुद्धता शेष रह गई है, उसे भी वह जानता है।

धर्मी चैतन्य की वीतरागी शांति का वेदन करता है, उस चैतन्य की शांति के समक्ष शुभराग का कषायकण भी उसे अग्नि जैसा प्रतीत होता है। चैतन्य की शांति में से जब बाहर निकला, तब राग की अशांति उपस्थित हुई। लेकिन चैतन्य की शांति जिसने नहीं देखी, उसे शुभराग अग्नि जैसा प्रतीत नहीं होता। अहा, चैतन्य की शांति का स्वाद जिसने ग्रहण किया है, वह तो राग से पृथक् हो गया है—फिर शुभ हो या अशुभ, वह सब राग अशांति है—भयंकर संसार की भूल है। अरे, राग में चैतन्य की शांति कैसे हो?

अहा, परमागम के रहस्य का मंथन कर-करके वीतरागी संतों ने चैतन्य की शांतिरूप मक्खन निकाला है। भाई! परमागम का मंथन करके उसमें से तू शुभाशुभराग न निकाल; शुभराग वह परमागम का सार नहीं है। परमागम का सार, परमागम का निचोड़, परमागम का रहस्य तो अंतर में शांति का सागर आत्मा है, उसे अनुभव में ले। अहा, अकषाय शांतिरूप सागर आत्मा है; उस अमृत के समुद्र में से राग का विष नहीं निकलता। परमागम अत्यंत महिमा करके जिसका गुणानुवाद करता है, स्वयं सुंदर चैतन्यतत्त्व तू है। परमागम तेरे स्वरूप को ही प्रसिद्ध करता है।

चैतन्य के स्वभाव में से सिद्धपद और केवलज्ञान की शुद्धता निकले, तब भी शक्ति में शुद्धता पूर्वगत की तरह पूर्ण ही है। शक्ति कहीं कम नहीं हो गई। उसीप्रकार पर्याय में अल्प शुद्धता हो, तब द्रव्य में शक्तिरूप बढ़ता है—ऐसा भी नहीं है। उसीप्रकार अज्ञानदशा में

शुद्धस्वभाव शक्तिरूप ऐसा है परंतु उस समय उसकी प्रतीति स्वयं को नहीं है। प्रतीति होने पर खबर हुई कि अहो, जैसा शुद्धतत्त्व अभी अनुभव में-श्रद्धा में आया है, ऐसा ही शुद्धतत्त्व पूर्व में भी मेरे में कारणरूप विद्यमान था।—अब उसकी प्रतीति होने पर पर्याय भी शुद्ध हो गई, कार्य भी शुद्ध हो गया। अहा, ऐसा शुद्धतत्त्व जिसने प्रतीत में लिया है। अनुभव में लिया, उस सम्यग्दृष्टि को धन्य है... करनेयोग्य कार्य उसने कर लिया है। मुनिराज भी उसकी प्रशंसा और अनुमोदना करते हैं। ऐसे तत्त्व का अनुभव करनेवाले मुनिराज वंदना करनेयोग्य हैं और सम्यग्दृष्टि भी प्रशंसनीय हैं।

अहा, शुद्ध चैतन्यतत्त्व संतों ने बतलाया है, तो अब 'आज ही' तुम ऐसे चैतन्यतत्त्व को अनुभव में लो। आज से ही उसका प्रारंभ करो। आत्मलाभ का अवसर है। भाई, तू व्याकुल न हो... अज्ञान में चाहे जितना काल व्यतीत हुआ हो लेकिन तेरा स्वभाव मलिन नहीं हो गया है, वह तो पूर्ववत् शुद्ध है। उसकी प्रतीत करने से अज्ञान मिट जाता है और शांति प्रगट होती है। वहाँ धर्मी अपने कारण-कार्य दोनों को शुद्ध जानता है।

अशुद्धता तो ऊपर-ऊपर की है। ऊपर-ऊपर अर्थात् क्या? कहीं असंख्य प्रदेश में से ऊपर के अमुक प्रदेशों में है और अंदर के प्रदेशों में नहीं—ऐसा नहीं, पर्याय तो सर्व प्रदेशों में हैं लेकिन वह अशुद्ध पर्याय अंतर की गहराई में इसलिये द्रव्य-गुण में प्रवेश नहीं करती है, द्रव्य-गुण अशुद्ध नहीं हुए, इसलिये अशुद्धता को ऊपर-ऊपर की कही है। उस अशुद्धता के समय अंतर्दृष्टि से धर्मात्मा अपने शुद्ध द्रव्य गुण स्वभाव को जानता है, उसीप्रकार पर्याय में जितनी शुद्धता वर्तती है, उसे भी जानता है और अशुद्धता विद्यमान है, उसे (स्वभाव से भिन्नरूप) भी जानता है। सर्व को जानते हुए भी, परमागम के साररूप शुद्धतत्त्व को ही वह अंतर में उपादेयरूप से अनुभव करता है। अहा, शुद्धतत्त्व के रसिक जीवों! तुम ऐसे परमतत्त्व को जानकर आज ही उसका अनुभव करो।

परमागम का सार यह है कि अंतर में परभावों से भिन्न अपनी शुद्ध चैतन्यवस्तु को ज्ञान में-श्रद्धा में-अनुभव में लो। वह चैतन्यचमत्कार परम तत्त्व है। व्यवहार का विकल्प, वह परम तत्त्व नहीं; ऐसे परमतत्त्व के अनुभव में-ज्ञान में-श्रद्धा में विकल्पों का अभाव है। सम्यग्दृष्टि ऐसे अद्भुत तत्त्व को अपने अंतर में देखता है... उसमें भेद-विकल्प-राग या पर का संबंध

दिखायी नहीं देता है... द्रव्य में-गुण में-पर्याय में शुद्धता अनुभव में आती है; जो अशुद्धता है वह शुद्ध तत्त्व के अनुभव से बाह्य है। ऐसा तत्त्वरसिक जीव ही अनुभव करते हैं। तत्त्व में केवल शांति ही है... शांति का सागर आत्मा, उसमें विकल्पों की अशांति कैसे हो ? अरे जीव! ऐसे शांत शुद्ध तत्त्व का रसिक होकर उसे तुम अनुभव में ले। यही तत्त्वरसिक जीवों का निरंतर कर्तव्य है।

मैं शुद्ध चैतन्यमय एक भाव हूँ, रागादि भाव मैं नहीं हूँ। ज्ञान द्वारा धर्मी जीव ऐसे तत्त्व का अनुभव करता है; उसने अपने ज्ञान की निर्मल शिला में भावश्रुतरूप परमागम को उत्कीर्ण कर लिया है। और यही सर्व सिद्धांतों का सार है।

[गुजराती आत्मधर्म, अंक 355 से 16-ए से 16-एफ तक का अनुवाद]

दु:ख का उपाय धैर्य

हे जीव! इस संसार में अनेक प्रकार के दु:ख आयें, अचानक वज्रपात जैसी प्रतिकूलताएँ आ पड़ें; मन आकुल-व्याकुल हो जाये—ऐसे समय में भी धैर्यसहित इतना तो अवश्य लक्ष में रखना कि अपना वह दु:ख तूने स्वयं ही उत्पन्न किया है। या तो पूर्वकाल में देव-गुरु-धर्म की विराधना से, या किसी साधर्मी के तिरस्कार से, किसी सत्कार्य में विघ्न डालकर, या पूर्वकाल के ऐसे ही किन्हीं क्लिष्ट परिणामों से तूने अपना दु:ख उत्पन्न किया है।—इसप्रकार दु:खकारणों को जानकर अत्यंत तीव्रता से छोड़।

पुनश्च, संतों की महत्वपूर्ण शिक्षा है कि—'आपत्तिकाल में धैर्य और शांति रखना, वह सच्चे मुमुक्षु का कर्तव्य है... सच्चा आत्मार्थी उन प्रसंगों को लाभरूप परिणति करता है; चाहे जैसी परिस्थिति में भी आत्मार्थी अपने आत्मार्थ से च्युत नहीं होता।

श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यदेव विरचित

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय

सुप्रसिद्ध महर्षि, अति प्रशस्त-सातिशय प्रज्ञा के धनी, श्रुतकेवलीकल्प अध्यात्म-विद्याकुशल तथा जिनागम-मर्मज्ञ श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' अपरनाम 'जिनवचन रहस्य कोष' की [जैन अहिंसामय सर्वप्रकार-उत्तम आचार संहिता की] रचना 10वीं सदी में की है। उस पर आचार्यकल्प स्व० पंडित श्री टोडरमलजी कृत भाषा टीका मूल ढूंढारी है, जो कुछ अंश अपूर्ण है।

बारान (राज०) में नदी के किनारे पर भट्टारक श्री कुन्दकुन्द के चरण हैं, वह तो विक्रम संवत् 49 में हो गये, श्री कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न ही हैं। वैसे एक भट्टारक श्री अमृतचंद्र हो गये जो 13वीं सदी के विद्वान हैं अत: भिन्न ही हैं। यह आचार्यदेव तो 10 वीं सदी में हो गये और उन्होंने श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत श्री समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय-समयसार नामक परमागम पर सर्वोत्तम शैली से संस्कृत भाषा में टीका की है। जो बालब्रह्मचारी महामुनि क्षत्रिय 'ठक्कुर अमृतचंद्र' नाम से सुप्रसिद्ध हैं। जो पुरुषार्थसिद्धि -उपाय और तत्त्वार्थसार के कर्ता हैं। इनकी समस्त रचनाओं का सभी जिज्ञासुओं में समादर ही है। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय के भाषा-टीका पर स्व० पंडित टोडरमलजी द्वारा जो आधुनिक हिन्दी में अप्राप्त रचना थी। वही पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रंथ सोनगढ़ (सौराष्ट्र) से और जयपुर (राज०) श्री टोडरमल स्मारक भवन से कोई भी मँगवाकर उसका लाभ ले सकते हैं।

पुरुष अर्थात् आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय अथवा जैन सिद्धांत के रहस्यों का भंडार ऐसा उनका अर्थ होता है। समस्त दु:खरूपी संस्कार का मूल मिथ्या श्रद्धा है और सत्य सुखरूपी धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक निजात्मा में-त्रैकालिक ज्ञायकरूप स्वतत्त्व में-लीन होना वह पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है। अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है।

आध्यात्मिक विद्वानों में भगवान की कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् यदि किसी का नाम लिया जाये तो वे श्री अमृतचंद्राचार्य हैं। ऐसे महान एवं उत्तम प्रज्ञावंत आचार्यदेव के विषय में उनकी साहित्यरचना के अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। वे स्वरूपानंद की मस्ती

में निरंतर झूलते हुए, प्रचुर स्वसंवेदन स्वरूप स्वसंवेदन से अपने सम्यक् अनेकांत का प्रयोजन, सर्वस्व सार जो पवित्र आत्मवैभव को ही प्रगट करनेवाले अनेक उत्तम गुणों के धारक भरतक्षेत्र के महान संत-दिगंबर जैन मुनिराज थे। तथा वे भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित परमागम श्री समयसारादि प्राभृतत्रयी के अद्वितीय टीकाकार तथा 'कलिकाल गणधर' की उपमा को प्राप्त थे। आत्मज्ञ संज्ञ पूज्य श्री कानजीस्वामी तो अनेक बार कहते हैं कि 'गणधरदेव तुल्य उनकी यह संस्कृत टीका नहीं होती तो भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य का हार्द नहीं समझा जा सकता था। वास्तव में उन्होंने सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की वाणी के अपूर्व अचिंत्य रहस्य खोले ही हैं।'

सर्वज्ञ वीतराग कथित अहिंसा ही सदा सच्ची अहिंसा है, जैनधर्म ही अहिंसा प्रधान है। निश्चय अहिंसा तो वीतरागीश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, उसका तथा व्यवहार-अहिंसा का यथार्थ स्वरूप श्री जिनेन्द्र कथित शास्त्रों में प्ररूपित किया गया है।

हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल इन चार विषयों के ज्ञान बिना तथा त्रैकालिक भूतार्थ निज ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लिये बिना हिंसा का यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने इस ग्रंथ में जिस अपूर्व शैली से अहिंसा का वर्णन किया है वैसा अन्य मत के किसी भी ग्रंथ में नहीं है। उन्होंने तत्त्वज्ञान सहित मिथ्याश्रद्धा के उपरांत हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और अपरिग्रहादि पापों को मात्र हिंसारूप ही सिद्ध किया है।

वर्तमान में तो पशुवध, मांसक्षण और अभक्ष्यादि के प्रचार द्वारा हिंसा की ही पुष्टि हो रही है; अरे! उनके त्याग बिना विश्व में शांति होना असंभव है। इसलिये सर्वज्ञ वीतराग कथित अहिंसा के रहस्य को समझकर जगत के सर्व जीव सत्यार्थ सुख-शांति का अनुभव करे ऐसी भावना है।

सभी से प्रार्थना है कि यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय पंडित श्री टोडरमलजी कृत भाषा वचनिका सहित सुंदर ढंग से प्रकाशित हुआ है—शीघ्र मंगवाकर स्व-पर में वीतराग विज्ञानमय अहिंसा का प्रचार करें। मूल्य कम होने से तथा सभी धर्म जिज्ञासुओं में मान्य होने से यह सर्व सम्मत साहित्य है। जो देखते ही बनता है।

पृष्ठ संख्या 208 मूल, 2.50 पोस्टेजादि अलग है। यह मूल्य आज से दो मास के लिये है। भगवान महावीर निर्वाण कल्याण की 2500 वीं जयंती के उपलक्ष में प्रत्येक प्रसंग पर बाँटने योग्य आचार संहिता का महान ग्रंथ है, जिनकी आज बहुत आवश्यकता है।

(-प्रस्तावना में से)

सिद्धक्षेत्र सोनागिरजी में आध्यात्मिक जैन शिक्षण शिविर का भव्य आयोजन

गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी परम पावन निर्वाण भूमि श्री सिद्धक्षेत्र सोनागिरिजी के वार्षिक मेले के अवसर पर दिनांक 18मार्च से 23 मार्च 1973 तक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल ग्वालियर की ओर से विशाल जैन शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया।

इस समारोह में पंडित श्री बाबूभाईजी फतेपुर, पंडित श्री कन्नुभाईजी दाहोद, पंडित श्री धन्नालालजी ग्वालियर, पंडित श्री राजमलजी भोपाल, पंडित श्री ज्ञानचंदजी विदिशा, पंडित जवाहरलालजी विदिशा आदि अनेक विद्वानगण पधारे। इसके साथ ही श्रीमान् महेन्द्रकुमारजी सेठी जयपुर, मध्यप्रदेशीय मुमुक्षु मंडल के व सोनागिर कमेटी के अध्यक्ष श्रीमान भगवानदासजी सागर, मंत्री श्री डालचंद्रजी भोपाल, उत्तरप्रदेशीय मुमुक्षु मंडल के अध्यक्ष श्री पदमचंदजी आगरा आदि पधारे।

कार्यक्रम—(1) आमंत्रित विद्वानों का स्वागत तथा शिक्षण शिविर के उद्घाटन के पश्चात् पंडित श्री ज्ञानचंदजी विदिशा 'जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला' भाग 1 के अभाव अधिकार पर शिक्षण प्रवचन करते थे। पांडाल श्रोतागणों से भरा रहता था।

(2) प्रातः पर्वत पर स्थित मानस्तंभ के नीचे पंडित श्री बाबूभाईजी फतेपुरवाले 'मोक्षमार्गप्रकाशक' नववें अध्याय (पुरुषार्थ से ही मोक्ष की सिद्धि) पर महत्वपूर्ण प्रवचन करते थे।

(3) श्री ज्ञानचंदजी विदिशा 'छहढाला' की तीसरी ढाल पर शिक्षण प्रवचन करते थे।

(4) मध्याह्न 2 बजे से 5 बजे तक विभिन्न मंदिरों की रथयात्राओं में भक्ति भजन, कलशाभिषेक होते थे। बाद में सामूहिक रूप में सिद्धक्षेत्र की परिक्रमा बहुत ही भक्तिपूर्वक की जाती थी। रात्रि 7.00 बजे से 8.00 बजे तक पर्वत पर स्थित श्री बाहुबलीस्वामी के सामने सामूहिक भक्ति होती थी। लोगों का कहना है ऐसी भक्ति, पूजन, प्रवचन व मेला इस क्षेत्र पर पूर्व के 50 वर्ष में हमने नहीं देखा।

(5) रात्रि 9 बजे से 10 बजे तक पांडाल में पंडित श्री बाबूभाईजी फतेपुर श्री

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के पंचम अध्याय अणुव्रत पर प्रवचन करते थे। सब ही भक्ति, भजन, पूजन, शिक्षण प्रवचन में बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न दूर-दूर के नगरों से पधारे व्यक्ति, महिलायें व युवकगण रुचिपूर्वक भाग लेते थे।

इस वर्ष के शिक्षण शिविर की निम्न मुख्यतायें रही हैं—

(1) नया बाजार लश्कर मंडली द्वारा भगवान महावीर स्वामी की विशाल प्रदर्शनी का आयोजन हुआ जिसमें महावीर भगवान के पूर्व के 10 भव व पाँच कल्याणक के अनेक पुरुषाकार दृश्य दिखाये गये अनेक स्वचलित दृश्यों के कारण यह प्रदर्शनी जो कि पांडाल के नीचे ही लगाई गई थी। मेले का आकर्षण केंद्र बना गया था। प्रदर्शनी को मेला कमेटी की ओर से पुरस्कार तथा प्रथम पदक प्राप्ति हुआ है।

(2) शिक्षण प्रवचन प्रकरण पुस्तिका नि:शुल्क वितरित की गई जिसमें शिक्षण व प्रवचन के विषय छपे हुये थे। अत: प्रत्येक श्रोता के सामने पुस्तक रहती थी। जिसका वह पूर्व में अध्ययन करके आता था, अत: प्रत्येक बात को अधिकाधिक समझने का प्रत्येक ने भरपूर प्रयत्न किया है, फलस्वरूप सत्मार्ग की प्रेरणा प्राप्ति की है।

(3) विशाल संग्रह युक्त आध्यात्मिक पुस्तकों का बुक स्टाल लगाया गया था जिसमें करीब रुपये 2000 की पुस्तकें विभिन्न नगर के लोगों ने स्वाध्याय हेतु खरीदी।

(4) म.प्र. मुमुक्षु मंडल का अधिवेशन व चुनाव किया गया। जिसमें 2500 वें भगवान महावीर निर्वाणोत्सव हेतु प्रतिज्ञा की गई कि 250 वीतराग विज्ञान पाठशालायें मध्यप्रदेश में खोली जावेंगी।

(5) श्री भगतरामजी (देहली) द्वारा 2500वें निर्वाण महोत्सव संबंधित गतिविधियों पर प्रकाश डाला गया और धर्मचक्र चलाने की योजना पर विचार किया गया।

इसप्रकार शिक्षण शिविर के इन आयोजनों से मेला में अनूठापन रहा जो कि आज तक नहीं देखा गया। सभी ने तन-मन-धन से सराहना की जिससे शिविर का आयोजन प्रतिवर्ष के लिये निश्चित किया गया है।

(यह समाचार देर से ही मिला है क्षमा करें—सम्पादक)

प्रचार मंत्री, केसरीमल पाटनी, मध्यप्रदेशीय मुमुक्षु मंडल

विविध समाचार

सोनगढ़ (तारीख 26-6-73)—परम पूज्य श्री कानजीस्वामी सुख-शांति से विराजमान हैं। प्रातः श्री नियमसारजी पर तथा दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र पर भाववाही आध्यात्मिक प्रवचन होते हैं। श्री परमागम मंदिर का निर्माण कार्य सुचारुरूप से चल रहा है। ज्येष्ठ कृष्णा 6 को सीमंधरस्वामी के समवसरण मंदिर की वर्षगाँठ तथा ज्येष्ठ कृष्णा 8 को श्री समयसारजी शास्त्र स्थापना की वर्षगाँठ उत्साहपूर्वक मनायी गयी। 6 के दिन श्री जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा तथा 8 के दिन श्री जिनवाणी की भव्य रथयात्रा निकाली गई थी। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुत पंचमी) के दिन अच्छा उत्सव मनाया गया था।

सूचना—प्रति वर्ष श्रावण मास में लगनेवाला शिक्षण-शिविर इस वर्ष अकाल की परिस्थिति के कारण स्थगित रखा गया है; भोपाल मुमुक्षु मंडल की ओर से शिक्षण-शिविर का आयोजन श्रावण मास में होने की संभावना है। श्रावण तथा भाद्रपद में जो सज्जन सोनगढ़ आना चाहते हों, उनके लिये यहाँ निवास एवं भोजनादि की सुविधा पूर्ववत् मिलेगी। आशा है मुमुक्षुगण पूज्य स्वामीजी के सत्संग का लाभ अवश्य लेंगे।

सामयिक सूझ

सागर (म.प्र.)—निवासी श्रीमान् सेठ भगवानदासजी जैन समाज के एक सुपरिचित सेवाभावी व्यक्ति हैं। सागर जैन समाज की ओर से आपका सार्वजनिक सम्मान एवं अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने के लिये एक संयोजन-समिति गठित की गई थी एवं पूर्ण तैयारी हो चुकी थी। कुछ ही दिनों में सम्मान समारोह होने जा रहा था। परंतु सेठ श्री भगवानदासजी ने बड़ी ही विनम्रतापूर्वक इस सम्मान समारोह के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हुए अपने हितेच्छु मित्रों, प्रशंसकों, लेखकों एवं विद्वानों से निवेदन किया कि मैं इस सम्मान के योग्य नहीं हूँ। इसलिये मुझे क्षमा करें। आप लोग मेरे प्रति जो हार्दिक सम्मान प्रदर्शित करना चाहते हैं, उसके लिये मैं आपका आभारी हूँ परंतु मैं अपने को इस सम्मान के योग्य नहीं मानता।

सागर के इतिहास में ऐसा आदर्श अब तक किसी ने उपस्थित नहीं किया तथा अन्यत्र भी ऐसा नहीं सुनने में आया। लोकेषणा को भीषण विष मानकर श्री सेठ भगवानदासजी ने सम्मान समारोह एवं अभिनंदन ग्रंथ का सविनय अस्वीकार किया है। सत्पुरुष श्रद्धेय श्री कानजीस्वामी के सान्निध्य में आने के बाद उनके जीवन में जो परिवर्तन आया है, वही उनके सम्मानत्याग का एक प्रमाण है। वे इसप्रकार के आयोजनों को आत्महित में बाधक मानते हैं। सेठजी अधिकांश समय सोनगढ़ में व्यतीत करते हैं। जीवन की सांध्यबेला में खड़े रहकर वे आज भी धार्मिक कार्यों में सहयोग दे रहे हैं।

12, लाजपतपुरा
सागर

कपूरचंद्र आयुर्वेदाचार्य
सागर (म.प्र.)

विदिशा (म.प्र.) से श्री ब्रह्मचारी दीपंचदजी लिखते हैं कि फालेगाँव (महाराष्ट्र) से विदिशा के प्रशिक्षण-शिविर में 21 शिक्षार्थी आये थे। शिविर का आयोजन पूर्णत: सफल रहा। करीब 167 अध्यापक-प्रशिक्षणार्थी, 250 शिक्षार्थी एवं अन्य अनेक लोगों ने शिविर के कार्यक्रमों का अच्छा लाभ लिया। मैं सिवनी तथा करेली (म.प्र.) जा रहा हूँ।

बीना (तारीख 18-6-73) श्री ब्रह्मचारी हेमराजजी लिखते हैं कि—विदिशा का प्रशिक्षण शिविर बड़ी सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। श्रावण मास में भोपाल में शिक्षण-शिविर का आयोजन किया जा रहा है। वहाँ की कमेटी ने ऐसा निर्णय किया है।

ललितपुर (उ.प्र.) विदिशा प्रशिक्षण-शिविर की समाप्ति के पश्चात् श्री पंडित हुकमचंदजी जयपुरवाले यहाँ दो दिन के लिये पधारे थे। आपके आध्यात्मिक-प्रवचनों का समाज ने खूब लाभ लिया। ललितपुर मुमुक्षु मंडल अपने यहाँ शिक्षण-शिविर की योजना बना रहा है।

फालेगाँव—(देशमुख) तारीख 2-5-73 यह एक छोटासा गाँव है, यहाँ 200 घर की आबादी है। यहाँ के जैन भाईयों में धर्म के प्रति विशेष रुचि है। यहाँ का शिक्षण शिविर संपन्न हुआ। जिसमें 450 साधर्मी भाईयों ने लाभ लिया। शिक्षण शिविर में सोनगढ़ से दो विद्वान और श्री मधुकरजी पधारे थे। दीपचंदजी लिखते हैं कि फालेगाँव में जो सफलता प्राप्त हुई, उसके लिये हम परम पूज्य स्वामीजी तथा माननीय अध्यक्ष श्री नवनीतभाई जवेरी का उपकार मानते हैं।

—ब्रह्मचारी दीपचंदजी जैन

सौराष्ट्र की बात

— सामने छपे हुए शिलालेख का चित्र आप देख रहे हैं। यह शिलालेख प्रभास-पाटन वेरावल (सोमनाथ) के पुलिस स्टेशन के पास से तारीख 2-4-1958के दिन प्राप्त हुआ था। वह आज जूनागढ़ के सक्करबाग-म्युजियम में शोभायमान है।

— यह शिलालेख 18''×16'' की साईज में है। जिसकी एक ओर का आधा भाग लगभग नष्ट हो गया है। शिलालेख में 25 पंक्तियाँ हैं; भाषा संस्कृत है।

इस शिलालेख की सातवीं पंक्ति निम्नलिखित है—

न्नंदिसंघे गणेश्वराः। बभूवुः कुंदकुंदाख्याः साक्षातकृतजगत्त्रयाः। 13

येषामाकाशगामित्वं त्या

— इसमें नंदिसंघ के गणेश्वर के रूप में कुन्दकुन्दाचार्यदेव का स्मरण करके उन्हें तीन जगत का साक्षात् करनेवाला कहा है। और उनकी आकाशगामित्व ऋद्धि का भी स्पष्ट उल्लेख किया है।

शिलालेख की 11वीं पंक्ति में **श्रीमत् नेमिजिनाधीश तीर्थयात्रानिमित्ततः** ऐसा उल्लेख है, अर्थात् गिरनार तीर्थ की यात्रा के निमित्त से किसी के आगमन का उसमें उल्लेख है।

— शिलालेख की 23 वीं पंक्ति में, पश्चिम सागर के तीर (अर्थात् सोमनाथ में) चंद्रप्रभस्वामी के जिनगृह का उल्लेख है। और उसमें जयतात् दिग्वाससां शासनं—ऐसे दिगम्बर शासन का उल्लेख है।

— सोमनाथ के एक मंदिर में जैनमूर्ति विराजमान है, जिसका उल्लेख बनारस के विद्वान पंडितश्री कैलशचंद्रजी ने अपनी एक पुस्तक में किया है।

— इस शिलालेख में कुन्दकुन्दाचार्यदेव को 'तीन लोक को साक्षात् करनेवाले' के रूप में महान उल्लेख है तथा उनके आकाशगामित्व का उल्लेख देखकर प्रसन्नता होती है, और गिरनार तीर्थधाम की यात्रा को आये हुए प्रभु के नाम का शिलालेख देखकर आज भी जूनागढ़ में कुन्दप्रभु के दर्शन जैसा आनंद प्राप्त होता है। आप जब कभी गिरनार यात्रा को पधारें, तब अवश्य ही इस शिलालेख के दर्शन करें।

सौराष्ट्र-वेराबल-सोमनाथ से प्राप्त हुआ एक प्राचीन शिलालेख

—जिसकी सातवीं पंक्ति में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के संबंध में महत्वपूर्ण उल्लेख है:—

VERVAL INSCRIPTION OF CHAULUKYA BHIMA II

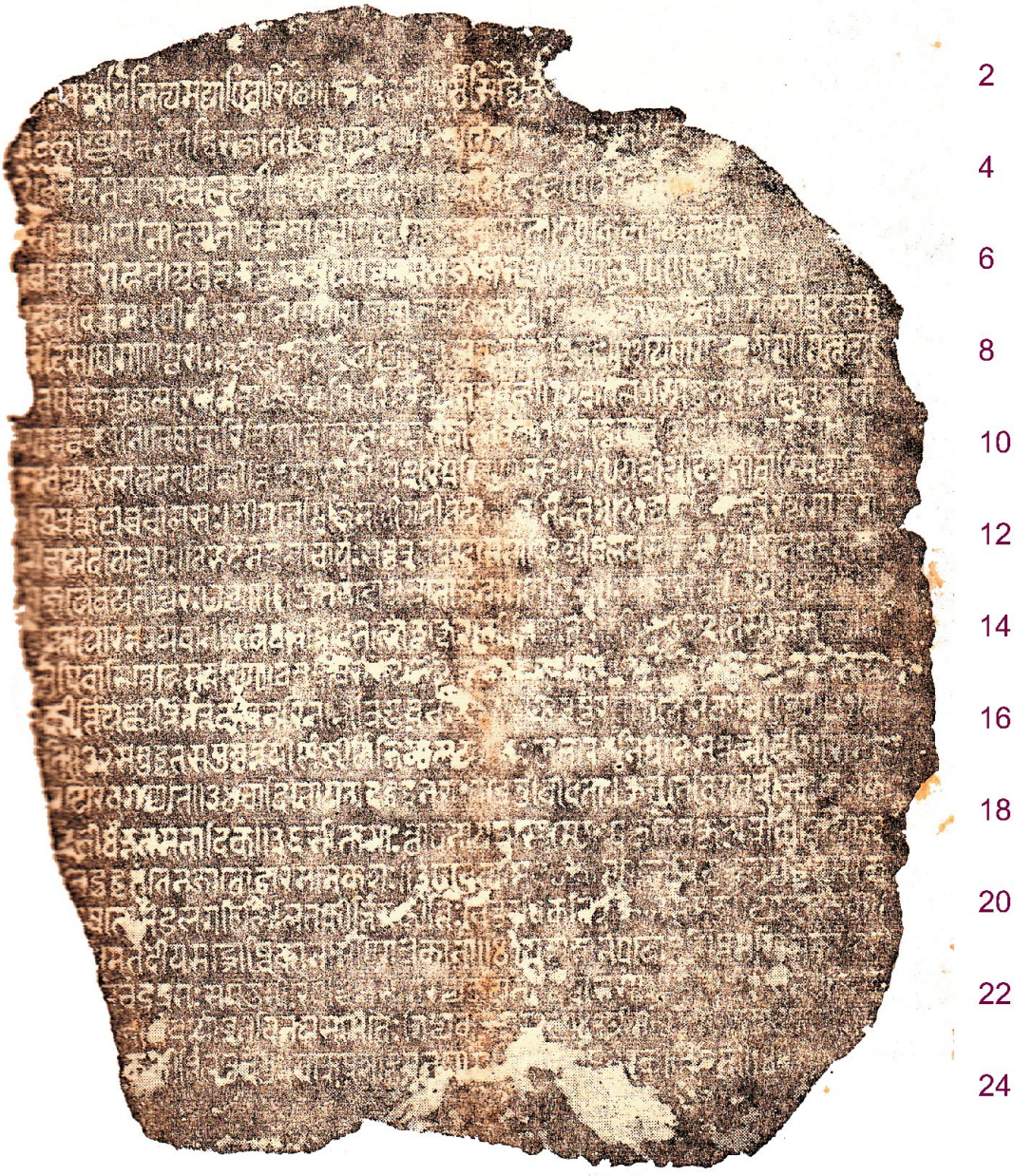

Scale : One - third

आत्मसाधना की विधि

दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा की आराधना से ही सिद्ध होती है, इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं होती; इसलिये दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा की उपासना करना—यह मोक्षार्थी जीव का प्रयोजन है। चैतन्य की प्राप्ति करना ही जिसका मंगल-अभिप्राय है, ऐसा मोक्षार्थी जीव मुक्ति के लिए प्रथम तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहिचान करके उसकी श्रद्धा करता है। यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ, और उसके सेवन से पूर्ण सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी। ऐसी नि:शंक श्रद्धापूर्वक उसमें लीनता हो सकती है। मोक्ष का सिंहनाद करता हुआ जो शिष्य आया है, वह मंगल-अभिप्रायवाला शिष्य सर्वप्रकार से प्रयत्न द्वारा आत्मा को जानता है, श्रद्धा करता है और पश्चात् उसी में ठहरने का उद्यम करता है। उसे मुक्त होने की ही बात रुचिकर लगती है। सुनने में, मनन में, शास्त्र के पठन में सर्वत्र वह मुक्त होने की ही बात ढूँढ़ता है। प्रथम बात यह है कि आत्मा को जानना, जहाँ वास्तविक ज्ञान किया, वहाँ 'ऐसा आत्मा हूँ'—ऐसी नि:शंक श्रद्धा भी हुई। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले को राग का अभिप्राय नहीं, संसार का अभिप्राय नहीं, एकमात्र चैतन्य की प्राप्ति का ही मंगल-अभिप्राय है, बंधन से मुक्त होने का ही अभिप्राय है। जिसप्रकार धन की प्राप्ति का अभिलाषी राजा को पहिचान कर और श्रद्धा करके बहुत ही उद्यमपूर्वक उसका सेवन करके उसे प्रसन्न करता है, विनय से-ज्ञान से सर्वप्रकार से सेवा करके राजा को राजी करके प्रसन्न करता है; उसीप्रकार मोक्षार्थी जीव अंतर्मुख प्रयत्न द्वारा प्रथम तो आत्मा को जानता है, और श्रद्धा करता है; ज्ञान द्वारा जो आत्मा की अनुभूति हुई, वह अनुभूति ही मैं हूँ—इसप्रकार आत्मज्ञानपूर्वक प्रतीति करता है और फिर उस आत्मस्वरूप में ही लीन होकर आत्मा को साधता है।—आत्मा को साधने की यह विधि है।

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)